सम्पादक

श्रवण कुमार "नवेन्दु"

भारती पुस्तक संस्थान, वाराणसी

[भर्तृहरि का विस्तृत जीवन-वृत्त एवं साहित्य विवेचन, मूलसहित श्लोकान्वय, संस्कृत-भावार्थ, व्याख्या एवं हिन्दी भाषानुवादादि]

लेखक

डॉ० श्रवण कुमार "नवेन्दु"

अध्यक्ष : काशी हिन्दी उत्थान समिति, वाराणसी

प्रकाशक

भारती पुस्तक संस्थान

वाराणसी

श्री भर्तृहरि और उनकी कृतियाँ

किंवदन्तियों के आधार पर महाकवि श्री भर्तृहरि का जीवनवृत्त

अपनी अमर कृतियों के द्वारा संस्कृत साहित्य की महिमा एवं गरिमा को दिग्दिगन्त में बिखेरने वाले रससिद्ध कवीश्वरों के बीच श्री भर्तृहरि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। शृंगार, नीति, वैराग्य शतकों के रचयिता श्री भर्तृहरि संस्कृत-साहित्य के एक विलक्षण प्रतिभा के कवि एवं महान वैयाकरण थे। संस्कृत-साहित्य में जितना गौरव उनको एक उत्कृष्ट कवि के रूप में प्राप्त हुआ है उतना ही एक वरिष्ठ वैयाकरण के रूप में भी। संस्कृत-साहित्य की इस अमर विभूति ने कब, कहाँ और किस परिवार में जन्म लिया था; पारिवारिक जीवन उसका कैसा था, किन अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में उसकी प्रतिभा एवं पाण्डित्य का विकास हुआ, इत्यादि उसके जीवन से सम्बन्धित बहुत सी बातें अब भी अन्धकार में हैं और विद्वानों के विवाद का विषय बनी हुई हैं। इस महान साहित्यकार के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में भारत का प्राचीन इतिहास बिल्कुल मौन धारण किये हुए है। संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखकों ने कवि के जीवन के सम्बन्ध में जिन उपकरणों के द्वारा प्रकाश डालने का प्रयास किया है, वे अधिकांश किंवदन्तियों पर आधारित हैं और यही कारण है कि महाकवि भर्तृहरि विद्वानों के मतभेद के विषय बने हुए हैं।

वैसे किंवदन्तियों के आधार पर महाकवि भर्तृहरि के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में जितने उपकरण अभी तक प्राप्त हुए हैं, हम वृहद् विवेचन के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

● अर्वाचीन कोष के अनुसार महाकवि भर्तृहरि के पिता का नाम श्री वीरसेन था। वे गन्धर्व जाति के थे। उनकी चार सन्तानें थीं—भर्तृहरि, विक्रमादित्य, सुभटवीर्य और मैनावती। यह मैनावती ही इतिहास प्रसिद्ध श्री गोपीचन्द की माता थी।

● एक अन्य किंवदन्ती के आधार पर भर्तृहरि के पत्नी का नाम अनंगसेना था। उस पर उनका अनन्य अनुराग था। पत्नी की दुश्चरित्रता की एक घटना ने भर्तृहरि को संसार से विरक्त बना दिया।

● एक किंवदन्ती के अनुसार भर्तृहरि की माता का नाम सुशीला देवी था जो जम्बूद्वीप के राजा की एकमात्र पुत्री थी। राजा को कोई पुत्र नहीं हुआ था मात्र उनकी एकमेव पुत्री सुशीला ही थी। सुशीला के पुत्र भर्तृहरि को उन्होंने अपना सम्पूर्ण राज्य अर्पित कर दिया। उस समय भर्तृहरि ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया। विक्रमादित्य को राज्यसिंहासन सौंपकर सुभटवीर्य को उन्होंने उसका प्रधान सेनापति बनाया।

● एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार भर्तृहरि की पत्नी का नाम पद्माक्षी था। वह मगध के राजा सिंहसेन की पुत्री थी।

● एक जनश्रुति भर्तृहरि का सम्बन्ध उज्जयिनी के राजवंश से स्थापित करती है। इसके अनुसार भर्तृहरि विक्रमी संवत् के प्रवर्तक राजा विक्रमादित्य के बड़े भाई थे। बड़े भाई होने के नाते राजसिंहासन के उत्तराधिकारी यही थे। किन्तु पिंगला नाम की रानी जो असाधारण सुन्दरी थी और जिस पर इनका अत्यधिक अनुराग था, जिसकी पति-भक्ति पर इनका अडिग विश्वास था, उसके दुश्चारित्र्य की एक घटना ने इनके हृदय में उत्कट वैराग्य उत्पन्न कर दिया। उन्होंने राजसिंहासन अपने भाई विक्रम को देकर वन का मार्ग ग्रहण किया और अपना शेष जीवन तपस्या में बिताया।

● शेषगिरि शास्त्री ने भर्तृहरि की वंश परम्परा का जो उल्लेख अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है वह उक्त किंवदन्तियों से बिल्कुल भिन्न है। उनके मत से राजा विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त नाम के एक ब्राह्मण के पुत्र थे। चन्द्रगुप्त ने चार विवाह किये थे। इनमें पहली ब्राह्मण की लड़की थी, दूसरी क्षत्रिय की, तीसरी वैश्य की और चौथी शूद्र की थी। ये क्रमशः ब्राह्मणी, भानुमती, भाग्यवती और सिन्धुमती नाम से पुकारी जाती थीं। चारों ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया। वररुचि का जन्म प्रथम स्त्री से, विक्रमार्क का द्वितीय से, भट्टी का तृतीय से तथा भर्तृहरि का चतुर्थ से हुआ था। इनमें विक्रमार्क राजा थे और भट्टी उसके प्रधान मंत्री।

इस प्रकार महाकवि भर्तृहरि के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में प्रकाश डालने वाली इन किंवदन्तियों में सत्य का कितना अंश नीहित है, यह पता लगाना कठिन है। किन्तु इन उपकरणों से इतना तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि भर्तृहरि का जन्म अवश्य किसी न किसी राजवंश में हुआ था। भर्तृहरि एक असाधारण प्रतिभा के कवि थे। किंवदन्तियों के अनुसार उनकी रानी पिंगला की दुश्चरित्रता की घटना ने उनको राज्य का परित्याग कर तपस्वी बनने के लिए प्रेरित किया। हो सकता है कि यह घटना असत्य और निराधार हो। किन्तु इतना तो निश्चित है कि उन्हें संसार में कुछ ऐसे कटु अनुभव प्राप्त हुए थे जिनसे उनके हृदय में उत्कट वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने राजसी वैभव एवं विलास का परित्याग कर वनों में जा तपस्वियों का जीवन विताया। हो सकता है कि ये अनुभव उनको अपने व्यक्तिगत जीवन से प्राप्त हुए हों या यह भी हो सकता है कि उनके अपने सम्पर्क में रहने वाले कुछ अन्य व्यक्तियों के जीवन से। उनके शतकों के देखने से एक वात और ज्ञात होती है, वह यह कि नारी के गुणों से उनकी आस्था डिग-सी गई थी। उसकी चारित्रिक पवित्रता में उनका विश्वास नहीं रह गया था। अपने शतकों में कहीं भी उन्होंने नारी के प्रति अपनी सहानुभूति नहीं दिखलाई है। सर्वत्र वे उसके आचरण के सम्वन्ध में शंकालु ही वने रहे हैं। उनके नीतिशतक के 'या चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता' इत्यादि श्लोक से तथा और भी वहुत से ऐसे श्लोक हैं जिनसे यह ध्वनि स्पष्ट परिलक्षित होती है। इन्हीं तर्कों का आश्रय लेकर कुछ विद्वान उनकी रानी की दुश्चरित्रता तथा उनके वैराग्य की किंवदन्ती के सत्य होने का समर्थन करते हैं।

उक्त किंवदन्तियों के आधार पर श्री भर्तृहरि का जीवनवृत्त हमने स्पष्ट किया है, किन्तु दुःख इस वात का है कि संस्कृत साहित्य के शोधकर्त्ताओं ने आज तक इस कवि के जीवन के बारे में किञ्चित् मात्र भी प्रयास नहीं किया है। कवि का जीवन किंवदन्ती वनकर ही रह गया है। हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि भर्तृहरि विक्रम संवत्सर के प्रवर्तक विक्रमादित्य के वड़े भाई थे। विक्रमी संवत् ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व प्रारम्भ होता है। अतः किंवदन्ती के अनुसार ई० पू० प्रथम शताब्दी उनका जीवनकाल माना जा सकता है। किन्तु यह

उतना ही विश्वसनीय माना जा सकता है, जितना कि भर्तृहरि का विक्रमादित्य का बड़ा भाई कहा जाना।

महाकवि श्री भर्तृहरि का स्थितिकाल निर्धारण

श्री भर्तृहरि द्वारा रचित श्लोक अनेक ग्रन्थों में पाये जाते हैं, जिनमें कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विशाखदत्त का मुद्राराक्षसम्, अभिनव गुप्त का ध्वन्यालोक, केशव मिश्र का अलंकार शेखर, रुय्यक का अलंकार सर्वस्व, क्षेमेन्द्र के औचित्यविचार चर्चा, कवि कण्ठाभरण और सुवृत्ततिलक, मम्मट का काव्यप्रकाश, गोविन्द का काव्य प्रदीप, वाग्भट्ट का काव्यानुशासन, नमिसाधु का काव्यलंकार टीका, अप्पयदीक्षित का कुवलयानन्द, धनञ्जय का दशरूपक, आनन्दवर्द्धन का ध्वन्यालोक, विष्णु शर्मा का पञ्चतन्त्र, नारायण का हितोपदेश, वल्लाल का भोज प्रबन्ध, सेवाराम का रस रत्नहार, शार्ङ्गधर का शार्ङ्गधर पद्धति, भोजराज का सरस्वती कण्ठाभरण, वल्लभदेव का सुभाषितावली और जल्हड़ का सूक्ति मुक्तावली आदि ग्रन्थ हैं।

इनमें कालिदास के शाकुन्तलम् में जो नीतिशतक का श्लोक 'भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः' पाया जाता है, यह विचारणीय है। कालिदास न केवल प्रतिभा सम्पन्न कवि ही थे, प्रत्युत धारणावती धी = मेधा से सम्पन्न बहुश्रुत एवं बहुपठित विद्वान भी थे। वे जिस ग्रन्थ को एक बार पढ़ लेते थे वे उनको कण्ठस्थप्राय हो जाते थे। यही कारण है कि वे अपने ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों के कतिपय भाव ही नहीं श्लोक भी ज्यों के त्यों रख दिये हैं। जैसे—नारदीय पुराण का "क्रोधं प्रभो संहर संहरेति" श्लोक उन्होंने अपने कुमार सम्भव काव्य में ज्यों का त्यों रख दिया है। बहुज्ञ व्यक्ति की रचना में इस प्रकार की बातें स्वभावतः आ जाती हैं। इसमें अनुकरण करने की प्रवृत्ति नहीं होती है। कारण जो व्यक्ति उससे उत्कृष्ट श्लोक रच सकता है वह अनुकरण क्यों करेगा? हाँ, अभ्यास के कारण वैसा भाव या श्लोक उसकी लेखनी से स्वतः लिख जाय तो इसमें उसका दोष नहीं है। अस्तु यह बात इतिहास में प्रसिद्ध हो गई है कि विक्रम संवत् ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व से आ रहा है, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है। इस विक्रम संवत् के प्रवर्तक राजा विक्रमादित्य ही थे। भर्तृहरि राजा विक्रमादित्य के बड़े भाई माने गये हैं और कालिदास विक्रमादित्य के नौ सभा-

रत्नों में से एक माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में ई० पू० प्रथम शताब्दी भर्तृहरि का काल निर्धारित हो जाता है जो कि कालिदास का भी काल मान लिया गया है। ऐसा मान लेने से यह भी संगति बैठ जाती है कि कालिदास ने भर्तृहरि के शतक पढ़े होंगे और नीतिशतक का 'भवन्ति नम्राः' श्लोक उनको इस प्रकार अभ्यस्त हो गया होगा कि अभिज्ञान शाकुन्तलम् में वह श्लोक उनकी लेखनी से अपने-आप लिख उठा होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि या तो भर्तृहरि कालिदास के बिल्कुल समकालीन थे या कालिदास से कुछ ही वर्ष पूर्व हुए होंगे। यह बात निश्चित हो जाने पर अन्य ग्रन्थों में जो भर्तृहरि के श्लोक उद्धृत हुए हैं उनकी भी संगति बैठ जाती है, कारण अन्य सब ग्रन्थों के लेखक भर्तृहरि के पश्चात् ही हुए हैं।

महाकवि श्री भर्तृहरि के प्रणीत ग्रन्थ

'युधिष्ठिर मीमांसक' के संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास के अनुसार निम्नलिखित ग्रन्थ भर्तृहरि रचित माने जाते हैं—

१—वाक्य पदीय (तीन काण्ड), २—वाक्यपदीय टीका (१-२ काण्ड), ३—सुभाषित त्रिशती (श्रृंगार शतक, नीतिशतक, वैराग्य शतक), ४-महाभाष्य दीपिका (महाभाष्य टीका), ५—मीमांसाभाष्य, ६—वेदान्तसूत्रवृत्ति, ७—शब्दधातु समीक्षा। पर इनमें भर्तृहरि की सुप्रसिद्ध मौलिक रचनायें दो ही हैं—एक वाक्यपदीय और दूसरी सुभाषित त्रिशती। अतः इन्हीं दोनों का परिचय हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

● वाक्यपदीय एक व्याकरण का ग्रन्थ है। इसमें तीन काण्ड (अध्याय) हैं। सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में स्फोट सिद्धान्त का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है। उच्चरित शब्दों के विनश्वररूप में और शब्दब्रह्म के मायारूप में समता है। अतएव उसको ध्वनि कहते हैं। जिसके द्वारा अर्थ का बोध होता है, वह शब्द का स्फोटरूप है। शब्दों के उच्चारण के साथ चैतन्य का प्रकाशन होता है। उसे ही स्फोट कहते हैं। शब्द केवल ध्वनि मात्र नहीं है। शुद्ध शब्दों का उच्चारण धर्म करने के तुल्य है। स्फोट ब्रह्म है। उसको मानने के कारण वैयाकरणों को शब्द-ब्रह्मवादी कहा जाता है। संक्षेप में स्फोट का परिचय यही है।

● सुभाषित त्रिशती में तीन शतक आते हैं—शृंगार शतक, नीति शतक और वैराग्य शतक। 'शृंगार शतक' में कवि ने जीवन की शृंगारमयी प्रवृत्तियों का विवेचन सफल और शालीन विधि से क्रिया है, पर शृंगार को सर्वोच्च स्थान उन्होंने कदापि नहीं दिया। अन्त में कवि की परिणति है कि शृंगार मायात्मक व्यापार है, सौन्दर्य मोह जनित विकार है। स्त्रियों में जो अमृत है, वह मधुमिश्रित विष है। इससे बचकर ही शिवभक्ति के द्वारा शाश्वत आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। धनद ने शतकत्रय की भूमिका में शृंगार की प्रतिष्ठा का कारण बताया है—

आरब्धा शतकत्रयी पृथगिह प्राय स्थितिस्तादृशां।
शान्तेवर्त्मनि कर्मणां नयविदां तोषो भवेज्जातुचित ॥
शृंगारः प्रथमं तथा रसवतां हेतुः प्रवृत्तौ यतो।
बालानां कटुकौषध प्रणयने देयः पुरस्तादगुडः ॥

'नीति शतक' में अनेक नैतिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है। ये सभी सिद्धान्त बिना किसी भेदभाव के समग्र विश्व के लिए कल्याणकारी हैं। भला, सज्जनता, विद्या, वीरता, साहस, मैत्री, उदारता, भूतदया आदि मानवीय वृत्तियों को कौन नहीं पसन्द करेगा। इन वृत्तियों का अत्यन्त हृदयग्राही स्वरूप बड़ी सरल पदावली में चित्रित किया गया है। देखिये निम्नलिखित श्लोक में सज्जनता का कैसा सुन्दर एवं सजीव चित्र महाकवि श्री भर्तृहरि ने चित्रित किया है—

मनसिवचसिकाये पुण्य पीयूषपूर्णास्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यंनिजहृदिविकसन्तः सन्तिसन्तः कियन्तः ॥

'वैराग्य शतक' उत्कृष्ट शैली में लिखा गया है। यहाँ मँजी हुई धारा प्रवाह भाषा में जो चित्र खींच दिये गये हैं तथा लक्ष्य और मन को अवसन्न कर देने वाले विद्युत जैसे भावों का एक पर एक जो गुम्फन होता गया है—यह सब कुछ केवल तीन प्रमुख विचारधाराओं में अनुस्यूत है—(१) काम (वासना) के विकार से जीवन आक्रान्त है और इसका कुछ भी ठोस तथ्य हमें उपलब्ध नहीं होता। काम विकार की निन्दा में भर्तृहरि ने क्रमशः अपने हार्दिक उद्‌गार व्यक्त किये हैं। (२) वैराग्य की दूसरी पृष्ठभूमि है संसार की नश्वरता। काल

सबको समेटे चला जा रहा है, कुछ भी यहाँ स्थायी नहीं है, जिसे देख कर भर्तृहरि के हृदय से वैराग्य के उद्‌गार फूट पड़े हैं। (३) वैराग्य की तीसरी आधार भूमि जो वैराग्य शतक में तीव्र आवेग से प्रकट होती है, वह है धनियों और राजाओं द्वारा विद्वानों का निरादर, उनके द्वारा विद्वानों से स्तुति की कामना, उनका दम्भ और विद्वानों को धन की अप्राप्ति। ऐसी स्थिति में भर्तृहरि विद्वानों को सन्तोष से काम लेने की सलाह देते हैं—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या,
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

महाकवि श्री भर्तृहरि का साहित्यिक मूल्यांकन

"कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों तथा विचारों को कलात्मक ढंग से सफलता पूर्वक अभिव्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता भर्तृहरि की वह विशेषता है, जो उनको संस्कृत-साहित्य के मूर्धन्य कवियों के बीच स्थान दिलाती है।"

भर्तृहरि के सम्बन्ध में प्रो० लैसेन का उक्त कथन अक्षरशः सत्य है। भर्तृहरि की भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध, परिष्कृत एवं मुहावरेदार है। उनकी शैली प्रसाद-गुण पूर्ण है। शब्द-योजना अत्यन्त व्यवस्थित है। भावों को अभिव्यक्त करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है। भाषा में स्वाभाविक प्रवाह तथा पदों में लालित्य है। उनकी शैली के दो भिन्न रूप हमें दिखलाई पड़ते हैं।

१—समस्त पदों से रहित बड़े-बड़े छन्दों वाला।
२—समस्त पदों से युक्त छोटे छन्दों वाला।

कवि की यह दूसरी शैली गागर में सागर भरने वाली शैली है। यह बड़ी प्रभावशाली है। इन छोटे-छोटे छन्दों में भाषा का प्रवाह तथा पदों का लालित्य अत्यन्त आकर्षक है। इस शैली का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिन कपोल भित्तिषु गजेषु।

प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतु॥३७॥

इस छोटे से छन्द को पढ़िये और देखिये कि इसमें कैसी स्वाभाविक शब्द योजना है। इसमें एक-एक शब्द कानों में झंकार-सी उत्पन्न करते हुए चलते हैं। कृत्रिमता तो इनमें कहीं छू तक नहीं गई है। अपने भावों को पाठकों के हृदय में स्पष्ट अंकित कर देने को कवि की शैली कितनी सुन्दर है। छन्द के प्रथम दो चरणों में वह एक सुन्दर चुभता हुआ उदाहरण उपस्थित करता है और अन्तिम चरण में वह अपना कथ्य सूत्र रूप में इतनी स्पष्टता के साथ रख देता है कि पाठक को उसको समझने में तनिक भी आयास नहीं करना पड़ता। पढ़ते ही वह उसका अपना हो जाता है। यही कारण है कि भर्तृहरि के बहुत से ऐसे श्लोक लोगों के अधरों पर रहते हैं और अवसर पाते ही वे उससे सहसा बाहर निकल आते हैं। यद्यपि इन लघुकाय छन्दों में कवि ने समस्त पदावली का भी प्रयोग किया है किन्तु इससे उनमें दुरूहता नहीं आ पाई है। हाँ, इतना तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि कवि की लाघवप्रियता की यह प्रवृत्ति यत्र-तत्र उसकी भाव व्यञ्जना में अवश्य बाधक हुई है। किन्तु ऐसे स्थल शायद ही दो चार हों।

कवि की दूसरी शैली, जिसमें बड़े-बड़े छन्दों का प्रयोग हुआ है प्रायः लम्बे समासान्त पदों से मुक्त है। कुछ ऐसे श्लोक अवश्य मिलेंगे जिनके अन्तिम चरण में समासान्त पदावली का दर्शन हो सकता है। किन्तु इन समासों के कारण उसकी शैली में किसी प्रकार की जटिलता या दुरूहता नहीं उत्पन्न हो सकी है। ऐसे समस्त पद कवि की शैली की उत्कृष्टता को बढ़ाने में सहायक ही हुए हैं, बाधक नहीं। एक निश्चित साँचे में ढले हुए उनके श्लोकों से इस प्रकार के श्लोक कहीं अधिक सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होते हैं। यद्यपि उनकी पंक्तियों में जयदेव के गीतों का-सा माधुर्य नहीं है किन्तु उनकी सरल, स्वाभाविक और आडम्बरहीन शब्दयोजना विषय-प्रतिपादन और भावाभिव्यञ्जन में पूर्णतया समर्थ हैं। उनके अलंकार अनावश्यक रूप से भाषा को बोझिल न बनाते हुए बड़े ही स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुए हैं और भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाते ही हैं, घटाते नहीं।

भर्तृहरि चरित्र-चित्रण में भी बड़े पटु है। लीजिए एक उदाहरण उनके

चरित्र-चित्रण का। निम्नलिखित श्लोक में सज्जनता का ऐसा सुन्दर एवं सजीव चित्र उन्होंने खींचा है कि वह साकार हो उठी है। देखिये—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥७८॥

कवि का जो भी श्लोक सामने आता है वह अपने प्रवाह, पदलालित्य एवं पदलाघव आदि गुणों के कारण बलात् पाठक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। ऊपर उद्धृत श्लोक में इन समस्त गुणों को एक ही साथ देखिये। इसमें आये हुये एक-एक पद कितने सार्थक एवं सारगर्भित हैं। भर्तृहरि की यह सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति ही है, जिसने उनकी कविता को इतना सरस एवं सजीव बनाया है और शुष्क धार्मिक एवं नैतिक उपदेशों को इतना हृदयग्राही बना दिया है कि वे सदैव पाठकों के होठों पर रहते हैं। शतकम् के एक-एक पद नगीने की तरह दीप्तिमान हैं। यदि एक भी पद बीच से हटा दिये जायँ तो श्लोक की सारी पदमाला टूट कर बिखर जाय और अस्त-व्यस्त हो जाय। कवि की मानव-जीवन की अनुभूति बड़ी तीव्र थी। दैनिक जीवन के गूढ़ एवं अनुभूत सत्यों को उन्होंने बड़े ही हृदयग्राही ढंग से प्रस्तुत किया है। कहीं नीति के अनुभवजन्य उपदेश अंकित हैं, कहीं संसार के नश्वर भोगों से वितृष्णा उत्पन्न कराने वाले वैराग्य के बहुमूल्य सन्देश और कहीं विलासिनियों के आकर्षक रूप-विलास की मादकता। मानव के वासना-जन्य अस्थिर प्रेम-व्यापारों का यदि वास्तविक चित्र देखना हो तो निम्न श्लोक पढ़ें—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते तु परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं चइमां च मां च।

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण महाकवि श्री भर्तृहरि को समाज में

इतनी लोकप्रियता तथा संस्कृत साहित्य के इतिहास में मूर्धन्य कवियों के बीच स्थान मिला है।

नीतिशतक से मिलने वाली शिक्षाएँ

नीतिशतक से हमें अनेकानेक शिक्षायें प्राप्त होती हैं। उनमें जो मुख्य शिक्षाएँ हैं, उनका उल्लेख हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

भर्तृहरि ने वेदान्त मतों का अनेक स्थानों पर उदाहरण दिया है। वे ब्रह्म साक्षात्कार को मानव जीवन का परम प्राप्तव्य मानते हैं। उनके मत से पूर्ण ज्ञान के द्वारा मोह का उन्मूलन तथा कर्म-सन्यास, ये दो ब्रह्म साक्षात्कार के साधन हैं। वेदान्त-दर्शन के ये ही मुख्य सिद्धान्त हैं। यही कारण है कि भर्तृहरि वेदान्त-दर्शन के अनुयायी माने जाते हैं। उन्होंने नीति शतकम् के माध्यम से मनुष्य जाति को कुछ विशेष नैतिक सिद्धान्तों की शिक्षा दिया है। उनका कहना है कि मूर्ख होना अभिशाप है। विवेक खोना पतन का लक्षण है। विद्या ही मनुष्य का सच्चा भूषण है। आत्म-सम्मान की रक्षा हर कीमत पर करनी चाहिए। परोपकार से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जिस प्रकार वृक्षों का काम है फल देना, मेघों का काम है जल देना तथा नदियों का काम है दूसरों के लिये बहना उसी प्रकार सज्जनों का काम है दूसरों का उपकार करना। धन उपार्जन करना आवश्यक है। क्योंकि धन के बिना मनुष्य के सारे गुण व्यर्थ हो जाते हैं। पर धन भाग्य के अनुसार ही मिलता है। अतएव मनुष्य को भाग्य बनाने के लिए सत्कर्म करते रहना चाहिये। शील (सदाचार) का मनुष्य के जीवन में बड़ा महत्त्व है। शील (सदाचार) की रक्षा पर भर्तृहरि बहुत जोर देते हैं। उनका विचार है कि ऊँचे पहाड़ के शिखर पर से अपने को नीचे किसी कठोर पत्थर पर गिराकर जान दे देना अच्छा है, बड़े विषैले साँप के तीखे दाँतों के बीच हाथ डाल देना कहीं अच्छा है, जलती हुई या धधकती हुई अग्नि में कूद पड़ना कहीं अच्छा है, परन्तु शील भ्रष्ट या चरित्रहीन होना

किसी भी दशा में अच्छा नहीं है। फिर आगे वे लिखते हैं कि जिस मनुष्य के शरीर में संसार की प्यारी वस्तु शील है उसके लिए अग्नि जल हो जाता है, समुद्र नहर हो जाता है, मेरु पर्वत तत्काल ही छोटी शिला हो जाता है, सिंह तुरन्त ही हरिण हो जाता है, सर्प पुष्प-माल हो जाता है और विष अमृत हो जाता है। इसी प्रकार धैर्य, सत्य, क्षमा तथा सत्संगति आदि गुणों की ओर भी भर्तृहरि ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। मेरे विचार से कवि भर्तृहरि का नीति-सिद्धान्त बिना किसी भेद-भाव के समग्र विश्व के लिए कल्याणकारी है।

नीतिशतक की काव्यविधा एवं इसका प्रयोजन

नीतिशतक मुक्तक कोटि की काव्यविधा में आता है। कारण ध्वन्यालोक में मुक्तक की परिभाषा बताई गई है—"पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।" अर्थात् जिस पद्य संग्रह के प्रत्येक पद्य अपने-आप में पूर्ण होते हैं तथा जिसे अपनी सार्थकता और रस-निष्पत्ति के लिये पूर्वापर प्रसंग की आवश्यकता नहीं होती, उसे मुक्तक नामक काव्य-कोटि में रखा जाता है। इसमें पद्य एक दूसरे से मुक्त रहते हैं। नीतिशतक का प्रत्येक पद्य अपने में स्वतः पूर्ण है, अकेला ही रस चर्वणा का सामर्थ्य रखता है और एक दूसरे से मुक्त है। इस प्रकार भर्तृहरि का, न केवल नीति शतक अपितु शृंगार शतक और वैराग्य शतक भी मुक्तक काव्यविधा की कोटि में रचे गये हैं।

भारतीय संस्कृति में जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग के नाम से प्रतिष्ठित हैं। इस चतुर्वर्ग की शिक्षा देने के प्रयोजन से कवियों ने प्रायः मुक्तक की रचना की है। भर्तृहरि ने भी अपने तीनों शतकों का प्रणयन प्रायः चतुर्वर्ग का उपदेश देने के लिए किया है। शृंगार शतक के द्वारा काम वर्ग का, नीति शतक के द्वारा धर्म और अर्थ वर्ग का तथा वैराग्य शतक के द्वारा मोक्ष वर्ग का उपदेश प्रस्तुत है।

सूक्तियों की सप्रसंग हिन्दी व्याख्या

१. सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ॥२२॥

सप्रसंग व्याख्या—यह सूक्ति विद्वत्पद्धति के प्रसंग में सत्संग की महिमा बताने वाले 'जाड्यं धियो हरति' श्लोक के अन्तिम चरण में आई है। अर्थ है—सत्संगति मनुष्यों की कौन सी भलाई नहीं करती है। वह बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, सत्य वचन बोलना सिखाती है, मान बढ़ाती है, पाप को भगाती है, मन को प्रसन्न करती है और कीर्ति को फैलाती है।

२. सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥४०॥

सप्रसंग व्याख्या—यह सूक्ति भी अर्थ-पद्धति के प्रसंग में धन की महिमा बताने वाले 'यस्यास्ति वित्तं' श्लोक के अन्तिम चरण में आई है। अर्थ है—सभी गुण सोने का सहारा लेते हैं अर्थात् जिसके पास धन है उसी के पास सब गुणों का निवास माना जाता है। क्योंकि धनवान को ही लोग कुलीन, पण्डित, शास्त्रज्ञ, गुणज्ञ, वक्ता और सुन्दर सब कुछ कहने-मानने के लिए तैयार रहते हैं।

३. वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥४६॥

सप्रसंग व्याख्या—यह सूक्ति अर्थ-पद्धति के प्रसंग में राजनीति की वेश्या से तुलना करने वाले 'सत्यानृता च' श्लोक के अन्तिम चरण में आई है। अर्थ है—राजनीति वेश्या के समान अनेक रूप धारण करती है, जैसे वेश्या कभी सत्य बोलती है कभी मिथ्या, कभी मधुर भाषण करती है कभी कटु भाषण, कभी हिंसक बनती है कभी दयालु, कभी धनलोलुप कभी उदार; कभी अपव्ययी कभी मितव्ययी। ठीक यही गति राजनीति की भी है। अर्थात् राजनीति में भी यही परस्पर विरुद्ध गुण अपनाने पड़ते हैं।

४. सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥५७॥

सप्रसंग व्याख्या—यह सूक्ति दुर्जन-पद्धति के प्रसंग में सेवक की कठिनाई बताने वाले 'मौनान्मूकः' श्लोक का अन्तिम चरण है। अर्थ है—सेवा का धर्म बहुत कठिन होता है, इसे योगी भी नहीं समझ पाते। क्योंकि सेवक यदि चुप रहता है तो गूँगा कहलाता है, हाजिरजवाब हुआ तो बड़बड़िया, यदि समीप में

खड़ा रहे तो ढीठ, दूर में रहे तो लजीला, सहनशील हो तो कायर और यदि बात न सहे तो अकुलीन कहलाता है।

५. भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः ॥७०॥

सप्रसंग व्याख्या—यह सूक्ति परोपकार-पद्धति के प्रसंग में 'भवन्ति नम्राः' श्लोक का प्रथम चरण ही है। अर्थ है—फल लगने से वृक्ष झुक जाते हैं। तात्पर्य है कि जैसे वृक्ष फल-सम्पदा से नम्र हो जाते हैं उसी तरह सत्पुरुष धन-सम्पदा से विनम्र हो जाते हैं। वे धन पाकर नीच की तरह उद्धत नहीं होते हैं।

६. सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः ॥७३॥

सप्रसंग व्याख्या—यह सूक्ति परोपकार-पद्धति के प्रसंग में 'पद्माकरं दिनकरो' श्लोक के अन्तिम चरण में प्रयुक्त है। अर्थ है—सज्जन लोग अपने आप ही दूसरे के उपकार में तत्पर रहते हैं। जैसे बिना प्रार्थना किये ही सूर्य कमल को और चन्द्रमा कुमुदिनी को विकसित करता है तथा मेघ (प्राणियों के लिए) जल बरसाता है, इसी तरह सज्जन बिना कहे ही दूसरे का उपकार कर देते हैं।

७. मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥८५॥

सप्रसंग व्याख्या—यह सूक्ति धैर्य-पद्धति के प्रसंग में 'क्वचित्पृथ्वीशय्यः' श्लोक का अन्तिम चरण है। अर्थ है—कार्य की सिद्धि चाहने वाला मनस्वी पुरुष सुख दुःख की चिन्ता नहीं करता। वह कार्य-सिद्धि के लिए देशकाल के अनुसार कहीं भूमि पर सोता है कहीं पलंग पर; कहीं दिव्य पदार्थ भोजन करता है कहीं साग पर ही समय काट लेता है; कहीं गुदड़ी पहनता है कहीं बहुमूल्य रेशमी वस्त्र। इस प्रकार सुख-दुःख में समरस होकर कार्य-सिद्ध करता है।

८. प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यात्यापदः ॥९१॥

सप्रसंग व्याख्या—यह सूक्ति 'दैव-पद्धति' के प्रसंग में 'खल्वाटो दिवसेश्वरस्य' श्लोक के अन्तिम चरण में पठित है। अर्थ है—अभागा व्यक्ति जहाँ जाता है, वहीं विपत्तियाँ भी उसके पीछे-पीछे चली जाती हैं। जैसे एक गंजा

मनुष्य धूप की प्रखरता से बचने के लिए एक ताल वृक्ष के नीचे जाकर खड़ा हो गया। पर वहां भी ताल का वड़ा भारी फल उसके सिर पर गिर पड़ा, जिससे उसका सिर फूट गया। भाग्यहीन होने का यही दुष्परिणाम होता है।

कुछ आवश्यक सूक्तियाँ

१. विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥६॥
२. नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥८॥
३. विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥९॥
४. सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥१०॥
५. कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका न मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥१४॥
६. अवस्या वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥४४॥
७. यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥५०॥
८. सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥५४॥
९. छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥५९॥
१०. प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥६६॥
११. न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥७९॥
१२. न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥८०॥

श्रीभर्तृहरिकृतम् नीतिशतकम्

अनुक्रम

ओ३म्

श्री भर्तृहरि कृतं

नीतिशतकम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

अन्वय—दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये, स्वानुभूत्येकमानाय, शान्ताय, तेजसे, नमः ।

भावार्थ—सर्वव्यापकाय, अनन्ताय, चैतन्यमूर्तये, स्वानुभवगम्याय, शान्ताय, तेजोमूर्तये ईश्वराय नमः ।

दशदिशासु तथा त्रिकालेषु अवच्छिन्ना चिन्मात्रा मूर्तिः यस्य तस्मै = दसों दिशाओं और तीनों कालों में अवच्छिन्न है, चिन्मात्रमूर्ति जिसकी, द्वन्द्व तथा सप्तमी तत्पुरुषगर्भित बहुव्रीहि समास ।

अनुवाद—सभी दिशाओं तथा कालों में परिपूर्ण, अनन्त, चैतन्यमूर्त्ति, केवल अपने अनुभव से ही गम्य, शांत, तेजस्वरूप परमात्मा (ब्रह्म) को नमस्कार है ।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥ २ ॥

अन्वय—याम्, सततम् चिन्तयामि, सा, मयि, विरक्ता, सा, अपि, अन्यम्,

जनम्, इच्छति, सः, जनः, अन्यसक्तः, अस्मत्कृते च, काचित्, अन्या, परितुष्यति, ताम्, च, तम्, च, मदनम्, च, इमाम्, च, माम्, च, धिक् ।

भावार्थ—सांसारिकः स्नेहः असत्यः अतः सांसारिकजनानां प्रीतिं विहाय ईश्वरचरणेषु अनुरक्तिः कार्या ।

अनुवाद—मैं जिसकी सदा चिन्ता करता हूँ वह (स्त्री) मुझसे विमुख है और पर पुरुष की इच्छा करती है। वह पुरुष अन्य स्त्री में लीन है और वह स्त्री हमसे सन्तोष प्राप्त करती है। इसलिये मेरी प्रिया को, उसके प्रेमी को, कामदेव को, उस अन्य स्त्री को और मुझको धिक्कार है।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रंजयति ॥ ३ ॥

अन्वय—अज्ञः सुखम्, आराध्यः, विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते, ज्ञानलवदुर्विदग्धम्, नरम्, ब्रह्मा, अपि, न, रंजयति ।

भावार्थ—संसारे अज्ञाः विशेषज्ञाः तथा अल्पज्ञाः जनाः सन्ति । तत्राद्याः सुखसाध्याः, अल्पज्ञान् ब्रह्मा अपि साधयितुं न शक्नोति ।

अनुवाद—मूर्ख सुख से साधा जा सकता है, ज्ञानी अत्यन्त सुख से साध्य है, परन्तु अल्पज्ञ मनुष्य को साधने में ब्रह्मा भी असमर्थ हैं।

प्रसह्य　मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रांतरात्,
समुद्रमपि संतरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम् ।
भुजंगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेन्न
तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ४ ॥

अन्वय—मकरवक्त्रदंष्ट्रांतरात्, मणिम्, प्रसह्य, उद्धरेत्, प्रचलदूर्मिमालाकुलम्, समुद्रम्, अपि संतरेत्, कोपितम्, भुजंगम्, अपि, शिरसि, पुष्पवत् धारयेत् (परन्तु) प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् न आराधयेत् ।

भावार्थ—संसारे मकरमुखात् मणिग्रहणम्, भीषणतरंगाकुलस्य सागरस्य संतरणम्, शिरसि सर्पधारणम् अशक्यम् परन्तु येन केन प्रकारेण एतत् सर्वं शक्यं संजायते, मूर्खचित्ताराधनं तु सर्वथा अशक्यम् ।

अनुवाद—वलवीर्य से पूर्ण मनुष्य मकर के मुख की दाढ़ों की नोक में से मणि को निकाल सकता है, चंचल तरंगों की मालाओं से परिपूर्ण उदधि को भी पार कर सकता है, क्रुद्ध सर्प को भी पुष्प के समान शीश पर धारण कर सकता है, किन्तु असत् वस्तुओं में लगे हुए मूर्ख मनुष्य के चित्त को कोई हटा नहीं सकता।

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेन्न
तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ५ ॥

अन्वय—सिकतासु, तैलम् अपि, यत्नतः, पीडयन्, लभेत, पिपासार्दितः च, मृगतृष्णिकासु सलिलम् पिबेत्, कदाचित्, पर्यटन्, शशविषाणम् अपि आसादयेत्, (परन्तु) प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तम् न आराधयेत्।

भावार्थ—संसारे सिकतासु तैलप्राप्त्यादिकम् असम्भवकार्यजातम् येन केन प्रकारेण संभवं संजायते परन्तु मूर्खजनचित्ताराधनम् पूर्णतया असम्भवम्, अतः एतन्प्रयासोऽपि निरर्थकः।

अनुवाद—यत्नपूर्वक पेरने से बालू में से तेल निकल सकता है, प्यासा मनुष्य मृग-तृष्णा में भी जल पी सकता है और पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए कभी खरहे का सींग भी मिल सकता है अर्थात् संसार में सभी असंगत कर्म सम्भव हो सकते हैं, परन्तु असत् वस्तु में लगे हुए मूर्ख मनुष्य के चित्त को हटाना सम्भव नहीं!

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते।
छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेन सन्नह्यते॥
माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते।
नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ॥६॥

अन्वय—यः, खलान्, सतां, पथि, सुधास्यन्दिभिः, सूक्तैः नेतुम्, वाञ्छति, असौ, व्यालम्, बालमृणालतन्तुभिः, रोद्धुम्, समुज्जृम्भते, वज्रमणीन् शिरीषकुसुम-प्रान्तेन छेत्तुम्, सन्नह्यते, क्षाराम्बुधेः मधुबिन्दुना, माधुर्यम् रचयितुम् ईहते।

भावार्थ—यः जनः सदुपदेशैः खलं सन्मार्गे नेतुम् इच्छति, सः बालमृणाल-तन्तुना गजस्य बंधनादिकवत् असम्भवकार्यं कर्तुं इच्छति। यथा हीरकमणीनां शिरीषकुसुमप्रान्तेन छेदनम् असम्भवं, क्षारसमुद्रस्य एकेन मधुबिन्दुना माधुर्यम् अशक्यम् तथैव उपदेशैः खलस्य सुधारः।

अनुवाद—जो मनुष्य अमृत-तुल्य उपदेशों से दुराचारियों को सन्मार्ग में लाने की इच्छा करता है, हाथी को कोमल कमलनाल के सूत्र से बाँधना चाहता है, हीरे को सिरस के पुष्प की पंखुड़ी से छेदना चाहता है और खारे समुद्र को मधु की एक बूँद से मीठा करना चाहता है; सचमुच वह मनुष्य असंभव कार्य करना चाहता है।

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः।
विशेषतः सर्वविदां समाजे विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥ ७ ॥

अन्वय—विधात्रा, अज्ञतायाः, छादनम्, स्वायत्तम्, एकान्तगुणम्, मौनम् विनिर्मितम्, विशेषतः सर्वविदाम्, समाजे, अपण्डितानाम्, विभूषणम् (इदमेव)।

भावार्थ—मौनं विशेषगुणवत् निजाधीनं च भवति। विदुषां सदसि मूर्खाणाम् अज्ञता मौनधारणेन एव प्रच्छन्ना तिष्ठति; अतः लोके अज्ञजनस्य अज्ञानावरणे मौनं विना नान्यः उपायः।

अनुवाद—विधाता ने अज्ञानता का आवरण, अपने अधीन रहनेवाला, अनेक गुणों से युक्त मौन का निर्माण किया है। विशेष रूप से विद्वानों की सभा में तो यह मूर्खों का आभूषण है।

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ॥
यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥ ८ ॥

अन्वय—यदा, अहम्, किंचिज्ज्ञः, (तदा) द्विप इव, मदान्धः, समभवम्, तदा, सर्वज्ञः, अस्मि, इति, मम, मनः, अवलिप्तम्, अभवत्, यदा किंचित्,

किंचित्, बुधजनसकाशात्, अवगतम्, तदा मूर्खः अस्मि इति, मे मदः, ज्वरः इव, व्यपगतः ।

भावार्थ—अल्पज्ञानं हानिकरं भवति, अल्पज्ञानेन 'अहं सर्वज्ञः' इति गर्वः संजायते । विदुषां संसर्गेण पूर्णज्ञानप्राप्तिः कर्तव्या । पूर्णज्ञानेन मनुष्यस्य अनुचितः गर्वः नश्यति ।

अनुवाद—जब मैं अल्पज्ञ था, तब हाथी के समान मदान्ध हो गया था और मैं सर्वज्ञ हूँ, ऐसा मुझे गर्व हो गया था । जब विद्वानों के संसर्ग से मैंने कुछ ज्ञान प्राप्त किया तब मैंने अपने को मूर्ख समझा और मेरा मद, ज्वर के समान उतर गया ।

क्रिमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं
निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ॥
सुरपतिमपि श्वापार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते
नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥९॥

अन्वय—श्वा, क्रिमिकुलचितम्, लालाक्लिन्नम्, विगन्धि, जुगुप्सितम्, निरामिषम्, निरुपमरसम्, नरास्थि, प्रीत्या, खादन्, पार्श्वस्थम्, सुरपतिम्, अपि, विलोक्य, न शंकते, हि क्षुद्रः, जन्तु, परिग्रहफल्गुताम् न गणयति ।

भावार्थ—यथा श्वा निकृष्टतम् मनुष्यास्थि खादन् समीपस्थम् इन्द्रमपि नावगणयति तथैव नीच, जनः गृहीतपदार्थस्य स्वच्छतां प्रति ध्यानं न ददाति । स लोकनिंदितमतितुच्छमपि कर्म करोति ।

अनुवाद—कुत्ता कीड़ों के समूह से युक्त, लार से भींगी हुई दुर्गन्धयुक्त, निन्दित, मांसरहित और रसहीन मनुष्य की अस्थि को खाते समय इन्द्र को भी अपने समीप खड़ा देखकर शंकित नहीं होता, क्योंकि नीच जीव ग्रहण की हुई वस्तु की स्वच्छता पर ध्यान नहीं देता है ।

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ १० ॥

अन्वय—गंगा, स्वर्गात्, शार्वम्, शिरः, पतति, तत्, पश्चात्, शिरसः, क्षितिधरम् (पतति) उत्तुंगात्, महीध्रात्, अवनिम् (पतति) अवनेः च, अपि, जलधिम्, (पतति) सा इयम् (गङ्गा) अधः, स्तोकम्, पदम्, उपगता, अथवा, विवेकभ्रष्टानां, शतमुखः, विनिपातः, भवति ।

भावार्थ—विवेकहीनानां जनानां सर्वदा एवं क्रमशः पतनं भवति यथा उत्तमात् विष्णुपदात् भिन्ना गंगा शनैः शनैः नीचस्थानमेव प्राप्नोति, तथैव विवेकभ्रष्टतया उत्तमस्थानात् भिन्नाः जना अपि सदैव पतनं प्रति गच्छन्ति। तेषां न पुनरुच्चपदप्राप्तिः ।

अनुवाद—गंगा स्वर्ग से शिव के सिर पर गिरती है, सिर से पर्वत पर गिरती है, ऊँचे पर्वत से पृथ्वी पर गिरती है और पृथ्वी से समुद्र में गिरती है। इस प्रकार क्रम से नीचे-से-नीचे स्थानों पर गिरती चली जाती हैं। इसी प्रकार विवेकभ्रष्ट मनुष्य भी सदैव शनैः शनैः नीचे ही गिरते जाते हैं।

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीनां
शतभिषगनुयातः शम्भुमूर्ध्नोऽवतंसः ।
विरहयति न चैनं राजयक्ष्मा शशाङ्कं
हतविधिपरिपाकः केन वा लंघनीयः ॥ ११ ॥

अन्वय—अयम् अमृतनिधानम् औषधीनां नायकः शतभिषगनुयातः शम्भुमूर्ध्नः अवतंसः अपि, राजयक्ष्मा एनं शशाङ्कं च न विरहयति । हतविधिपरिपाकः केन वा लंघनीयः ।

व्याख्या—अयं—दृश्यमानः (चन्द्रः), अमृतनिधानम् अमृतस्य सुधायाः निधानं कोषः ओषधीनां,—संजीवन्यादीनां, नायकः—नेता, शतभिषगनुयातः—शतभिषजा नक्षत्रेण शतेन भिषग्भिः वैद्यैश्च अनुयातः अनुसृतः, शम्भुमूर्ध्नः—शिवमस्तके, अवतंसः—आभूषणम् अपि, राजयक्ष्मा—क्षयरोगः, एनम—उक्तगुणविशिष्टं, शशाङ्कं—चन्द्रं, च, न विरहयति—न त्यजति तमपि पीडयतीत्यर्थः हतविधिपरिपाकः—हतः दुष्टः विधिः दैवम् भाग्यम् तस्य परिपाको नियोगः वा विधानम्, केन वा—मनुष्येण लङ्घनीयः—अतिक्रमणीयः ।

भावार्थं—दुर्भाग्यम् अतीव प्रवल भवति तस्य लल्लङ्घनं न कोऽपि कर्तुं शक्नोति । चन्द्रमसमेव पश्यतु, अयं हि अमृतस्य निधि:, संजीवन्याद्योषधीनां नायक., शतभिषग्भि: आवृत:, महादेवस्य शिरोभूषणं विद्यते, तथाप्ययं क्षयरोगेण पोडितोऽस्ति ।

अनुवाद—यह (चन्द्रमा) अमृत का खजाना है, (संजीवनी आदि) औषधियों का स्वामी है, शतभिषक् नक्षत्र अथवा सौ वैद्यों से घिरा रहता है और शिव के मस्तक का आभूषण है, तो भी क्षय रोग इस चन्द्रमा को नहीं छोड़ता है । (ठीक ही कहा गया है कि) दुर्भाग्य के परिणाम को कौन लाँघ सकता है ?

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः ।
मृदङ्गो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम् ॥ १२ ॥

अन्वय—लोके मुखे पिण्डेन पूरितः कः वशं न याति ? मृदङ्गः मुखलेपेन मधुरध्वनिं करोति ।

व्याख्या—लोके—जगति, मुखे—आनने, पिण्डेन—मिष्टान्नादि-पदार्थेन, पूरितः—भरितः, कः—जनः, वशम्—अधीनतां, न याति—न गच्छति ? मुखलेपेन—मुखे लेपकरणेन, मृदङ्गः—मुरजः, मधुरध्वनिं—मधुरशब्दं करोति—विदधाति ॥

भावार्थ—यथा मुखे लेपकरणेन मृदङ्गो मधुरध्वनिं कुरुते तथैव मिष्टान्नादिपदार्थ भोजनेन जनो वशीभूतो भवति ।

अनुवाद—संसार में मिष्टान्न आदि भोज्य पदार्थ से मुँह भर देने पर कौन वश में नहीं आ जाता ? जैसे मुख पर लेप लगा देने से मृदङ्ग मधुर शब्द करता है ।

अम्भोजिनीवननिवासविलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहतुं मसौ समर्थः ॥ १३ ॥

अन्वय– नितरां कुपितो विधाता हंसस्य अम्भोजिनीवननिवासविलासम् एव हन्ति । तु असौ अस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्तिम् अपहर्तुं न समर्थः ।

व्याख्या—नितराम्–अतिशयेन, कुपितः–क्रुद्धः, विधाता–ब्रह्मा, हंसस्य—मरालस्य, अम्भोजिनीवननिवासविलासम् एव—अम्भोजिनीवने कमलिनीकानने निवास एव विलासः आनन्द इति यावत् तम् एव, हन्ति—नाशयति । तु—पुनः, असौ—विधाता, अस्य—हंसस्य, दुग्धजलभेदविधौ–क्षीरनीरविवेकविषये, प्रसिद्धां–विख्यातां, वैदग्ध्यकीर्तिं—निपुणतायशः अपहर्तुं—नाशयतुं, न समर्थः—न क्षमः ।

भावार्थ—ब्रह्मा कुपितः सन् हंसस्य कमलिनीवनविहारमेव नाशयितुं शक्नोति न तु तस्य क्षीरनीरविवेकाख्यां जगत्प्रसिद्धां कीर्तिम् । तथैव राजा कुपितः सन् विदुषः स्वराज्यात् विवासयितुं शक्नोति परं तद्गुणापहारोऽत्यन्तं दुष्करः ।

अनुवाद—बहुत कुपित होने पर विधाता हंस के कमलिनियों के वन में निवास के आनन्द को ही नष्ट करता है; पर वह उसके दूध और जल को अलग-अलग कर देने के विधान में विख्यात निपुणता के यश का अपहरण करने में समर्थ नहीं है ।

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेन गौगर्दभौ ॥
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥१४॥

अन्वय—हुतभुक्, जलेन, वारयितुम्, शक्यः, सूर्यातपः, छत्रेण, समदः, नागेन्द्रः, निशितांकुशेन, गौगर्दभौ, दण्डेन, व्याधिः च, भेषजसंग्रहैः, विषम्, विविधैः, मन्त्रप्रयोगैः, सर्वस्य शास्त्रविहितम्, औषधम्, अस्ति, मूर्खस्य औषधम्, अस्ति, मूर्खस्य औषधम् न अस्ति ।

भावार्थ—लोके शास्त्रे च सर्वेषां रोगाणाम् [illegible] अस्ति, परन्तु मौर्ख्यरोगस्य चिकित्सा केनाप्यौषधेन अशक्या ।

अनुवाद—अग्नि का जल से, धूप का छाते से, मदान्ध गज का तीक्ष्ण अंकुश से, बैल और गधे का दण्ड से, रोगों का औषधों से तथा विष का नाना प्रकार के मन्त्रों से निवारण हो सकता है। इस प्रकार शास्त्र में सबकी औषधि निर्दिष्ट है, परन्तु मूर्ख की कोई औषधि नहीं है।

साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ॥
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥१५॥

अन्वय—(यः) साहित्यसंगीतकलाविहीनः (सः) पुच्छविषाणहीनः, साक्षात्, पशुः, तृणम्, न, खादन्, अपि, जीवमानः, तत्, पशूनाम्, परमम्, भागधेयम्।

भावार्थ—यः जनः साहित्यसंगीतकलाज्ञानविहीनः अस्ति सः पशुतुल्यः। तस्य केवलं शृंगपुच्छौ न स्तः अन्यथा सः जनः पशुरेव। अतएव साहित्यस्य, संगीतस्य कलायाः ज्ञानम् मनुष्यजीवनाय आवश्यकम्।

अनुवाद—साहित्य और संगीत की कला से हीन मनुष्य पूँछ और सींगों से रहित पशु के समान है। वह विना तृण खाये जीता रहता है, यह पशुओं का परम सौभाग्य है, अन्यथा पशुओं को घास भी नहीं मिलती।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ॥
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१६॥

अन्वय—येषाम्, विद्या न, तपः न, दानम् न, ज्ञानम् न, शीलम् न, गुणः न, धर्मः न, ते, भुवि भारभूताः, मर्त्यलोके, मनुष्यरूपेण, मृगाः, चरन्ति।

भावार्थ—विद्या, तपः, दानं ज्ञानं शीलं गुणं धर्मश्च मनुष्यजीवनयापनाय आवश्यक सहायकः। एभिर्विना मनुष्यः पूर्णमनुष्यः नास्ति। सः तु पृथिव्यां पशुतुल्य एव स्वजीवनं यापयति। अतएव पशुत्वनिरसनार्थं विद्यादिकं ज्ञानं सम्पादनीयम्।

अनुवाद—जिन मनुष्यों के पास न विद्या है, न तप है, न दान है, न ज्ञान है, न शील है, न गुण और धर्म है, वे इस मृत्युलोक में पृथ्वी के भार के समान मनुष्य के रूप में पशु समान विचरते हैं। अर्थात् विद्यादि गुणों से हीन मनुष्य पशुतुल्य है और पृथ्वी पर उसका जीवन भार-स्वरूप है।

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ॥
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥१७॥

अन्वय—पर्वतदुर्गेषु, वनचरैः, सह, भ्रान्तम्, वरम्, सुरेन्द्रभवनेषु, अपि मूर्ख- जनसम्पर्कः (वरम्) न।

भावार्थ—गिरिकन्दरासु कष्टपूर्वकं वनवासिभिः मृगैः च सह भ्रमणं श्रेष्ठम् भवति परन्तु मूर्खैः सह सुखपूर्वकं स्वर्गेऽपि वासः न उचितः। मूर्ख-जनसम्पर्कः सर्वथा त्याज्यः।

अनुवाद—पर्वत तथा दुर्गों में जंगली जानवरों के साथ भ्रमण करना अच्छा है, परन्तु देवताओं के राजा इन्द्र के भवन में भी मूर्खों के संसर्ग में रहना उचित नहीं है।

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ॥
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयोऽप्यर्थं विनापीश्वराः
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मण्यो यैरर्घतः पातिताः ॥१८॥

अन्वय—शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरः, शिष्यप्रदेयागमाः, विख्याताः, कवयः यस्य, प्रभोः विपये, निर्धनाः, वसन्ति, तत् वसुधाधिपस्य, जाड्यम्, हि कवयः, अर्थम्, विना, अपि, ईश्वराः हि यैः, मणयः, अर्घतः, पातिताः (ते) कुपरीक्षकाः कुत्स्याः स्युः।

भावार्थ—यस्य नृपस्य देशे श्रेष्ठकवयः निर्धनाः सन्ति, तस्य नृपस्य एव दोषः, कवीनां न। कवयस्तु कवितया एव धनवन्तः भवन्ति। मणीनाम् अल्प-मूल्यनिर्धारणे परीक्षकाणाम् एव बुद्धिहीनता, मणीनां दोषः न। अतः राज्ञा कवयोः अवश्यं सन्माननीया।

अनुवाद—शास्त्रोक्त शब्दों से युक्त सुन्दर वाणीवाले, शिष्यों को देने योग्य विद्या से युक्त प्रसिद्ध कवि, जिस राजा के देश में निर्धन रहते हैं वह उस देश के राजा की ही मूर्खता है, क्योंकि कवि तो विना धन के भी श्रेष्ठ ही होते हैं जैसे मणियों का मूल्य घटानेवाले परीक्षक ही निन्दनीय होते हैं, मणियाँ नहीं।

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शंपुष्णाति यत् सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धि पराम् ॥
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्धते ॥ १९ ॥

अन्वय—हे नृपाः तान् प्रति, मानम्, उज्झत, येषाम्, विद्याख्यम्, अन्तर्धनम् (वर्तते), यत्, हर्तुः, गोचरम्, न, याति, सर्वदा, किम्, अपि, शम् पुष्णाति, हि अर्थिभ्यः, अनिशम्, प्रतिपाद्यमानम्, पराम्, वृद्धिम्, प्राप्नोति, कल्पान्तेषु, अपि, निधनम्, न प्रयाति, तैः, सह, कः स्पर्धते ।

भावार्थ—नृपेण कवीनां सम्मानं कर्तुम् उचितम् । तैः विद्यानामकम् अपूर्वं धनं प्राप्तम्, यद्धनं चौराणां दृष्टिपथं न याति, सदा कल्याणकारी भवति, सर्वदा शिष्येभ्यः प्रदानेन वृद्धि प्राप्नोति, कल्पान्तेष्वपि न नश्यति । येषाम् एतादृशं धनं तैः सह न कोपि स्पर्धां कर्तुं प्रभवति अतः नृपैः विद्वांसः पूजनीयाः ।

अनुवाद—हे राजाओं, उनलोगो के प्रति अभिमान करना त्याग दो जिनके पास विद्या नामक गुप्तधन है जो चोरों को भी दिखायी नहीं देता, सदैव सुख की वृद्धि करता है, निरन्तर याचकों को प्रदान करने से परम वृद्धि को प्राप्त होता है और कल्पान्त में भी विनष्ट नहीं होता । ऐसे विद्या-धनयुक्त विद्वानों के साथ कौन स्पर्धा कर सकता है ? कोई नहीं ।

अधिगतपरमार्थान् पंडितान् मावमंस्था-
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि ॥
अभिनवमदलेखाश्यामगंडस्थलानां
भवति न बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥ २० ॥

अन्वय—अधिगतपरमार्थान्, पण्डितान्, मा, वमंस्थाः, तान्, लक्ष्मीः, लघु, तृणम्, इव, न एव संरुणद्धि अभिनवमदलेखाश्याम गंडस्थलानाम्, वारणानाम्, बिसतन्तुः, वारणम् न भवति ।

भावार्थ—पण्डिताः मोक्षमार्गविदः तैः लक्ष्मीः लघुतृणवत् मन्यते, लक्ष्मीः तथैव तान् रोद्धुं न शक्नोति यथा मदजलकृष्णगंडस्थलान् गजान् मृणालतन्तुः रोद्धुं न प्रभवति । अतः केनापि पण्डितानामवज्ञा न कर्तव्यम् ।

अनुवाद—जिनको परमार्थ अर्थात् मोक्ष के साधन का ज्ञान है ऐसे विद्वानों का अपमान मत करो ? क्योंकि उन्हें तुम्हारी छोटे तिनके के समान लक्ष्मी रोक नहीं सकती, जैसे नवीन मद की धारा से शोभित श्याम मस्तकवाले मत्त हाथियों को कमलनाल का सूत्र नहीं रोक सकता ।

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला ।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः ॥
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥ २१ ॥

अन्वय—पुरुषम्, न केयूराः, न चन्द्रोज्ज्वलाः हाराः, न स्नानम्, न विलेपनम्, न कुसुमम्, न अलंकृताः मूर्धजाः विभूषयन्ति । पुरुषम् एका वाणी समलंकरोति या संस्कृता धार्यते । भूषणादि खलु क्षीयन्ते सतत वाग्भूषणं एव भूषणम् ।

भावार्थ—केयूरादिकाः अलंकाराः, स्नानविलेपनादिकाः बाह्यश्रृंगारा पुरुषम्—अलंकर्तुं न प्रभवन्ति, संस्कारैः युक्ता वाणी एव पुरुषस्य वास्तविकः श्रृंगारः । सकलाभूषणानि नाशं यान्ति परन्तु सुसंस्कृता वाणी सर्वदा स्थीयते । अतः केयूराद्यलंकारेभ्यो वागलंकारः श्रेष्ठः सोऽवश्यं संपादनीयः । सततं सार्वकालं वाग्भूषणमेव भूषणम् ।

अनुवाद—पुरुष को केयूर, चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल हार, स्नान, लेपन, फूल और सज्जित केशराशि सुशोभित नहीं करते हैं, पुरुष को केवल वह वाणी ही सुशोभित करती है, जो संस्कारपूर्वक धारण की गयी हो । सभी भूषण विनष्ट होनेवाले हैं परन्तु वाणी का भूषण कभी नष्ट नहीं होता ।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ॥
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसुपूजिता न तु धनं विद्याविहीनः पशुः ॥ २२ ॥

अन्वय—विद्या नाम नरस्य अधिकम् रूपम्, प्रच्छन्नगुप्तम्, धनम्, विद्या भोगकरी, यशःसुखकरी, विद्या गुरूणाम् गुरुः, विद्या, विदेशगमने बंधुजनः, विद्या परं दैवतम्, राजसु विद्या पूजिता, धनम् नहि विद्याविहीनः पशुः ।

भावार्थ—विद्या एव मनुष्यस्य सर्वस्वम्, सा एव श्रेष्ठ रूपम, गुप्तातिगुप्तं धनम्। सा एव मनुष्याय भोगान्, यशः सुखं च ददाति। प्रवासकाले विद्या वंधुसमा भवति। सा एव परम देवता। नृपाः धन न पूजयन्ति अपितु विद्यामेव। अतः विद्याग्रहणं जनाय परमावश्यकम्। यः विद्याविहीनः सः पशुसमानम्। अतएव पशुत्वनाशाय विद्या-प्राप्त कर्त्तव्यम्।

अनुवाद--विद्या मनुष्य का अत्यधिक रूप तथा गुप्तधन है, भोग, यश और सुख को उत्पन्न करनेवाली है, गुरुओं की गुरु है, विदेश में बंधु के समान है, परम देवता है। विद्या ही राजाओं द्वारा पूज्य है, धन नहीं। विद्या-विहीन मनुष्य पशु के समान है।

जातः कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम्।
संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्टान्न चाधो
ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवदपरे जन्तवो जाननष्टाः ॥ २३ ॥

अन्वय--एकः सः कूर्मः (एव) जातः येन पृथुभुवनभराय पृष्ठम् अर्पितम्। ध्रुवस्य जन्म श्लाघ्यं यत्र तेजस्विचक्रं नियमितम् भ्रमति। परहितकरणे संजातव्यर्थपक्षाः अपरे जन्तवः उपरिष्टात् न, अधः च न (विद्यमानाः सन्ति), ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत् जातनष्टाः (भवन्ति)।

व्याख्या—एकः—केवलः, सः—प्रसिद्धः, कूर्मः—कच्छपः कच्छपावतारधारी विष्णुरित्यर्थः, (एव) जातः—उत्पन्नः, येन—कच्छपेन, पृथु विशालं यत् भुवनं संसारः तस्य भरः भारः तस्मै, पृष्ठं—स्वीयकूर्परतलम्, अर्पितं—दत्तम्। ध्रुवस्य—औत्तानपादेः, जन्म—जननं, श्लाघ्यं—प्रशंसनीयं, यत्र—यस्मिन् ध्रुवे, तेजस्विचक्रं—तेजस्विनां ग्रहनक्षत्रादीनां चक्रं मण्डलं, नियमितं—नियमपूर्वकं, भ्रमति—भ्रमणं करोति। परहितकरणे—परेषाम् अन्येषां हितकरणे कल्याणसाधने, संजातव्यर्थपक्षाः—असमर्थपक्षाः, अपरे—इतरे, जन्तवः—प्राणिनः, उपरिष्टात् ऊर्ध्वभागे वर्तमानाः, न—नहि (भवन्ति), अधः—नीचैः, च, न (विद्यमानाः सन्ति), ब्रह्माण्डोदुम्बरान्तर्मशकवत्—ब्रह्माण्डम् एव उदुम्बरं

जन्तुफल: तस्य अन्त: मध्ये ये मशका: कीट: तै: तुल्यं तद्वत्, जातनष्टा:—उत्पन्ना भूत्वा म्रियन्ते ।

भावार्थ—विष्णोरवतारस्य महाकच्छपस्य जन्म सफलं य: स्वपृष्ठे विशाल-भुवनभारं वहति । ध्रुवस्यापि जन्म प्रशस्यं यस्मिन् ग्रहनक्षत्रादयो नियमपूर्वकं भ्रमणं कुर्वन्ति । अन्ये प्राणिनस्तु उदुम्बरकीटवत् जातनष्टा: भवन्ति, अतस्तेषां जन्म व्यर्थम् । सार्थकजन्मा तु स एव कथयितुं शक्यते या जीवने किमप्यसाधारणं कर्म करोति ।

अनुवाद—एक उसी कच्छप (अर्थात् कच्छपावतार विष्णु) का जन्म लेना सार्थक है, जिसने विशाल संसार के भार (को ढोने) के लिए (अपनी) पीठ अर्पित कर दी है । ध्रुव का जन्म ग्रहण करना प्रशंसनीय है, जहाँ ग्रह-नक्षत्रों का समूह नियमित रूप से घूमता रहता है । दूसरे के हित करने में असमर्थ रहने वाले अन्य प्राणी न तो ऊपर और न नीचे ही (जाते) हैं बल्कि ब्रह्माण्डरूपी गूलर के कीड़ों की भाँति वे जन्म लेकर मर जाते हैं ।

क्षान्तिश्चेद्वचनेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि
व्रीड़ा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥ २४ ॥

अन्वय—देहिनाम् यदि क्षांति: चेत्, वचनेन किम् क्रोध: चेत् अस्ति, अरिभि: किम्, ज्ञाति: चेत् अनलेन किम्, यदि सुहृत् दिव्यौषधै: किम् फलम्, यदि दुर्जना: सर्पै: किम्, यदि अनवद्याविद्या धनै: किमु, व्रीडा चेत् भूषणै: किमु, यदि सुकविता अस्ति राज्येन किम् ।

भावार्थ—क्षमा शांतिवचनेन श्रेष्ठा, क्रोध: महत्तम: शत्रु:, दायादा: सहजा: अरय: पावकेनापि अधिका:, मित्रेण श्रेष्ठं न किंचित् औषधम्, दुर्जना: सर्पादपि भयानका: श्रेष्ठा विद्या श्रेष्ठम् धनम्, लज्जा परं भूषणम्, सुकविता च राज्यादपि बहुमूल्या भवति ।

अनुवाद—यदि क्षमा हो तो शान्ति वचन का क्या काम है ? यदि क्रोध है तो शत्रु की क्या आवश्यकता है ? यदि कुटुम्बिजन हैं तो अग्नि का क्या

प्रयोजन है ? यदि इष्टमित्र समीप हैं तो दिव्य औषधों की क्या आवश्यकता ? यदि दुर्जन समीप है तो सर्प क्या अधिक बिगाड़ेगा ? यदि दोषरहित विद्या पास है तो धन की क्या आवश्यकता है ? जिसके पास लज्जा है उसे आभूषणों से क्या प्रयोजन ? जिसके पास सुन्दर कविता है उसके लिए राज्य क्या है ?

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥ २५ ॥

अन्वय—स्वजने दाक्षिण्यं, परजने दया, दुर्जने सदा शाठ्यम्, साधुजने प्रीतिः, नृपजने नयः, विद्वज्जनेषु आर्जवम्, शत्रुजने शौर्यम्, गुरुजने क्षमा, नारीजने, धूर्तता, एवम् च ये पुरुषाः कलासु कुशलाः तेषु एव लोकस्थितिः ।

भावार्थ—लोकस्थित्यै जनः स्वकुटुम्बं प्रति उदारतां प्रदर्शयेत्, परजनेषु दयां कुर्यात्, दुर्जनान् प्रति शाठ्यं समाचरेत्, साधुभिः सह स्नेहं कुर्यात्, राजसभायां नीतिपूर्वकं कार्यं कुर्यात्, पण्डितैः सह सरलव्यवहारं कुर्यात्, शत्रुषु वीरताप्रदर्शनं कुर्यात्, गुरुजनान् प्रति क्षमायाचनार्थं सन्नद्धः तिष्ठेत्, नारीभिः सह चतुरतापूर्वकं व्यवहारं कुर्यात् ।

अनुवाद—अपने कुटुम्ब में उदारता, परजन पर दया, दुर्जन से दुष्टता, साधुओं से प्रेम, राजसभा में नीति, पण्डितों से सरल व्यवहार, शत्रुओं में शौर्य-प्रदर्शन, गुरुजनों से क्षमा-याचना और स्त्रियों से सद्व्यवहार रखना, इन सब कलाओं में जो मनुष्य कुशल हैं उनमें ही लोकाचार की स्थिति है, अर्थात् वही लोक-जीवन में सफल हो सकता है ।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥ २६ ॥

अन्वय—धियः जाड्यं हरति, वाचि सत्यम् सिंचति, मानोन्नतिम् दिशति,

पापम् अपाकरोति, चेतः प्रसादयति, दिक्षु कीर्तिम् तनोति, कथय, सत्संगतिः पुंसाम् किं न करोति ?

भावार्थ—सज्जनानां संगतिः सकलं बुद्धेः मंदताहरणादिकं लाभं करोति। साधु पुरुषाणां सहवासेन सत्यभाषणस्वभावः आयाति, तेन मानवृद्धिः भवति, पापानि दूरी भवन्ति चित्तं प्रसन्न भवति, यशश्च वर्द्धते। अतएव सत्संगतिः सर्वान् कामान् साधयति।

अनुवाद—बुद्धि की जड़ता को हरती है, वाणी में सत्य का सिंचन करती है, मान की उन्नति करती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और दिशाओं में कीर्ति का विस्तार करती है। 'कहो, सज्जनों की संगति मनुष्य का क्या लाभ नहीं करती ? अर्थात् पूर्ण लाभ करती है।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥ २७॥

अन्वय—ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः जयन्ति, येषाम् यशःकाये, जरामरणम् भयम् न अस्ति।

भावार्थ—पुण्यशालिनः, रससिद्धाः कवीश्वराः सदा जीविता इव उत्कर्षेण वर्तन्ते हि तेषां यशः शरीरं जरामृत्युभयेन रहितम्। सर्वजनाः मृताः परन्तु कालिदास-माघ-भवभूतिप्रभृतयः कवयः अद्यापि स्वयशः शरीरेण संसारे वर्तन्ते।

अनुवाद—उन पुण्यवान् रससिद्ध कविश्रेष्ठों की सदा जय होती है, जिनके यशरूपी शरीर को वृद्धावस्था और मृत्यु का भय नहीं है।

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेसलेशं मनः।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे पिष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिना॥ २८॥

अन्वय—देहिना, पिष्टपहारिणि इष्टदहरौ तुष्टे, सच्चरितः सूनुः, सती प्रियतमा, प्रसादोन्मुखः स्वामी, स्निग्धम् मित्रम्, अवंचकः परिजनः, निःक्लेशलेशं मनः रुचिरः आकारः स्थिरः विभवः, विद्यावदातम् च मुखम् संप्राप्यते।

भावार्थ—अस्मिन लोके स एव जनः सौभाग्यवान् यस्य सदाचारी पुत्रः पतिव्रता स्त्री, अनुग्रहकारकः स्वामी, स्नेहयुक्तं मित्रम् अवंचका कुटुम्बिनः, क्लेशरहितं मनः, सुन्दरं रूपम्, स्थिरा सम्पत् तथा विद्योज्ज्वलं मुखं च वर्तते। किन्तु एतत्सर्वम् केवलं भगवत्प्रसादेन एव प्राप्यते। तुष्टो हरिः सर्वान् मनोरथान् पूरयति अन्यथा न सम्प्राप्यते।

अनुवाद—स्वर्ग में निवास करनेवाले, सभी मनोरथों को पूर्ण करनेवाले भगवान् के प्रसन्न होने पर मनुष्य चरित्रवान् पुत्र, पतिव्रता पत्नी, सदैव कृपा करनेवाला स्वामी, स्नेही मित्र, अवंचक कुटुम्बीजन, क्लेश के लेश से रहित मन, सुन्दर रूप, स्थिर सम्पत्ति और विद्या से सुशोभित उज्ज्वल मुख प्राप्त करता है।

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतो विभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेषपन्थाः ॥२९॥

अन्वय—प्राणघातात् निवृत्तिः, परधनहरणे संयमः, सत्यवाक्यम्, काले शक्त्या प्रदानम्, परेषाम् युवतिजनकथामूकभावः, तृष्णास्रोतोविभंगः, गुरुषु विनयः, सर्वभूतानुकम्पा; सर्वशास्त्रेषु सामान्यः अनुपहतविधिः एषः श्रेयसां पन्थाः।

भावार्थ—मनुष्यः स्वकल्याणाय जीवहिंसां त्यजेत्, परधनं न हरेत्, सत्यं ब्रूयात्, समये सामर्थ्यानुसारं दानं समाचरेत्, परनारीणां चर्चां न कुर्यात्, तृष्णां त्यजेत्, गुरुषु विनम्रः स्यात्, सर्वभूतहिते रतः भवेत्, शास्त्रानुसारं समाचरेत् नित्यनैमित्तिक कर्माणि च न त्यजेत्। अयमेव शास्त्रनिर्दिष्टः कल्याणमार्गः।

अनुवाद—जीवहिंसा से निवृत्त रहना, पराया धन हरण करने में संयम रखना, सत्य बोलना, यथासमय यथाशक्ति धन देना, परस्त्री को चर्चा में मौन धारण करना, तृष्णा के प्रवाह को तोड़ना, गुरुजनों के प्रति विनययुक्त रहना,

प्राणिमात्र पर दया करना, समस्त शास्त्रों में प्रवृत्ति रखना, नित्य नैमित्तिक कार्यों का त्याग न करना—यही मनुष्यों के लिए कल्याण-मार्ग है।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचः
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य तूत्तमजना न परित्यजन्ति ॥३०॥

अन्वय—नीचैः खलु विघ्नभयेन न प्रारभ्यते, मध्याः प्रारभ्य विघ्नविहिताः विरमन्ति, उत्तमजनः पुनः पुनः अपि विघ्नैः प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य न परित्यजन्ति।

भावार्थ—उत्तममध्यमाधमानां कार्यारम्भे विभिन्नता। ते नीचाः जनाः ये कार्यं विघ्नानां भयेन न आरम्भते, ते पुनः मध्याः ये कार्यारम्भं तु कुर्वन्ति परन्तु विघ्ने सम्प्राप्ते तत् अपूर्णमेव त्यजन्ति। उत्तमजनास्तु कार्यमारभ्य शतविघ्नेष्वपि सम्प्राप्तेषु कार्यं पूर्णमेव कुर्वन्ति।

अनुवाद—दुष्ट मनुष्य बाधाओं के भय से कार्य आरम्भ नहीं करते हैं। मध्यम मनुष्य कार्य आरम्भ तो करते हैं परन्तु विघ्न पड़ने पर कार्य छोड़ देते हैं परन्तु उत्तमजन कार्य आरम्भ करके उसे अपूर्ण नहीं छोड़ते; चाहे कितनी ही बाधायें आती रहें।

असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं॥
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥३१॥

अन्वय—न्याय्या वृत्तिः प्रिया, असुभङ्गे अपि मलिनम् असुकरम् असन्तः तु न अभ्यर्थ्याः, कृशधनः सुहृत् अपि न याच्यः, विपदि उच्चैः स्थेयम्, महताम् च पदम् अनुविधेयम् इदम् विषमम् असिधाराव्रतम् केन उद्दिष्टम्।

भावार्थ—सन्तः एतत् कठोरं कृपाणधारावत्कठिनं व्रतं स्वभावेनैव धारयन्ति यत्ते स्वन्याय्योपार्जिता जीविका प्रिया मन्यन्ते, प्राणभङ्गेऽपि न पापं समाचरन्ति

दुष्टेभ्यः, अल्पधनेभ्यः मित्रेभ्यश्च न याचन्ते, आपत्काले महापुरुषतुल्य सदा उच्चैः तिष्ठन्ति स्वगौरवं न त्यजन्ति ।

अनुवाद—सज्जनों को अपनी न्यायोक्त जीविका प्रिय है, प्राण जाने पर भी मलिन कर्म उनसे दुष्कर हैं, दुष्टों से वे याचना नहीं करते, अल्पधनवाले मित्र से भी कभी नहीं मांगते, विपत्तिकाल में भी ऊँचे बने रहते हैं और श्रेष्ठ लोगों के आचरण का अनुकरण करते हैं। इस तलवार की धार के समान कठोर व्रत का सज्जनों को किसने उपदेश दिया है ? किसी ने नहीं, यह तो उनका स्वाभाविक गुण है ।

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्राणोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥३२॥

अन्वय—क्षुत्क्षामः अपि, जराकृशः अपि, शिथिलप्रायः अपि, कष्टाम् दशम् आपन्नः अपि, विपन्नदीधितिः अपि, प्राणेषु नश्यत्सु अपि मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुंभ-कवलग्रासैकबद्धस्पृहः, मानमहताम् अग्रेसरः केसरी किम् जीर्णं तृणम् अत्ति ।

भावार्थ—यथा मत्तगजराजमस्तकस्य मांसेच्छुकः संमानिषु सदा अग्र-गण्यं सिंहः, बुभुक्षया पीडितोऽपि, जरादुर्बलः अपि, शक्तिहीनः अपि, कष्टदशा-मापन्नः अपि, प्राणेषु कण्ठगतेषु अपि रोगी तेजहीनः अपि जीर्णग्रासकवलं न अश्नाति तथैव मानी पुरुषः स्वमहत्त्वविघातकं नीचं कर्म न करोति । प्राणा-न्तसमयेऽपि सिंहवदहंकारवान् पुरुषार्थी पुरुषः क्षुद्रं कार्यं नावलम्बते ।

अनुवाद—भूख से दुर्बल भी, वृद्धावस्था से कृश भी, शक्तिहीन भी, कष्ट की दशा को प्राप्त भी, तेजहीन भी, प्राणान्तकाल में भी, मत्त गजराजों के विदीर्ण किये मस्तक के मांस की ग्रास की सदा इच्छा रखनेवाला महामानियों में अग्रगण्य सिंह क्या सूखी घास खाता है ? कदापि नहीं ।

स्वल्पं स्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः

श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये ॥

सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ।।३३।।

अन्वय– श्वा, स्वल्पम् स्नायुवसावशेषमलिनम् निर्मांसम् अपि गोः अस्थि लब्ध्वा परितोषम् एति तत् तस्य क्षुधाशान्तये न, सिंह अङ्कम् आगतम् अपि जंबुकम् त्यक्त्वा, द्विपम् हन्ति, सर्वजनः कृच्छ्रगतः अपि सत्त्वानुरूपम् फलम् वांछति ।

भावार्थ—यथा शुनकः घृणास्पदान्तर्धातुभिः युक्तं मलिनं मांसहीनं लघु वृषादिकस्य अस्थि संप्राप्य तुष्टः भवति यद्यपि तेन तस्य क्षुधा शान्ता न भवति, सिंहश्च अङ्कप्राप्तं शृगालं विहाय हस्तिनमेव हन्ति, तथैव मानीजनः कष्टं प्राप्तोऽपि स्वसामर्थ्यानुरूपं फलमेव इच्छति ।

अनुवाद—कुत्ता पित्त और चर्वी से युक्त, मलिन, मांसरहित, छोटा-सा गाय की अस्थि का टुकड़ा पाकर सन्तुष्ट हो जाता है। यद्यपि उससे उसकी भूख शान्त नहीं होती, परन्तु सिंह गोद में आये हुए शृगाल को छोड़कर हाथी को मारता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक जन कष्ट पाकर भी अपनी शक्ति के अनुरूप फल की इच्छा करते हैं।

लांगूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ।।३४।।

अन्वय– श्वा पिण्डदस्य लांगूलचालनम्, अधः चरणावपातम्, भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनम् च कुरुते, गजपुङ्गवः तु धीरम् विलोकयति, चाटुशतैः च भुंक्ते ।

भावार्थ—क्षुद्रजनः सारमेयवत् भोजनदं प्रति नानाप्रकारेण स्वदीनत्वं यदा प्रदर्शयति, अनेक प्रकारेण कृतज्ञश्चभवति, श्रेष्ठ पुरुषश्च गजवत् सम्मान-पुरस्सरं प्राप्नोति तदा गृह्णाति ।

अनुवाद—कुत्ता एक टुकड़ा देनेवाले के सम्मुख पूंछ हिलाता है, नीचे चरणों पर झुककर गिरता है और पृथ्वी पर लोटकर मुख और पेट दिखलाता

है, परन्तु गजराज आहार देनेवाले की ओर गम्भीरतापूर्वक एक बार देखता है और अनेक प्रिय वचनों से युक्त प्रार्थना करने पर भोजन करता है।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥३५॥

अन्वय—परिवर्त्तिनी संसारे कः न जायते (कः) वा न मृतः, येन जातेन वंशः समुन्नतिं याति सः जातः।

भावार्थ—अस्मिन् परिवर्तनशीले संसारे जातस्य ध्रुवा मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च। यस्य जन्म भवति तस्य मृत्युरपि अवश्यम्। तस्यैव मनुष्यस्य जीवनं सफलं येः स्वकुलस्य उन्नतिं करोति अन्यथा स जातोऽपि मृतप्रायोऽस्मि।

अनुवाद—इस परिवर्तनशील संसार में कौन उत्पन्न नहीं होता अथवा कौन मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः वही मनुष्य मनुष्यत्व प्राप्त करता है जिसके उत्पन्न होने से कुल की उन्नति होती है।

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनाः।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्येत वन एव वा ॥३६॥

अन्वय—कुसुमस्तबकस्य इव मनस्विनाम् द्वे गती स्तः, सर्वलोकस्य मूर्ध्नि अथवा वने विशीर्येत।

भावर्थ—यथा पुष्पगुच्छ, जनानां शिरसि धार्यते अथवा वने एव नष्टो भवति तथैव मनस्विनः जनमध्ये उन्नतपदे तिष्ठन्ति अथवा निर्जने स्थाने शान्ताः वसन्ति।

अनुवाद—पुष्प के गुच्छे के समान मनस्वी पुरुषों की भी दो ही प्रकार की गति होती है या तो वे सब लोगों के मस्तक पर सुशोभित होंगे अथवा वन में सूखकर विनष्ट हो जायेंगे।

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्चषा-
स्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते॥
द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भास्करौ
भ्रान्तः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥३७॥

अन्वय—अन्ये अपि वृहस्पतिप्रभृतयः पंचषाः संभाविताः सन्ति, तान् प्रति एषः विशेष विक्रमरुचिः राहुः न वैरायते, पश्य पर्वणि शीर्षविशेषीकृतः भ्रान्तः दानवपतिः दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ द्वौ एव भास्करौ ग्रसते ।

भावार्थ—यथा राक्षसराजः राहुः सर्वान् वृहस्पत्यादीन् ग्रहान् विहाय केवलं सूर्यचन्द्रौ एव ग्रसते तथैव दुष्टजनः स्वपराक्रमस्य उत्कर्षं दर्शयितुम् अतितेजस्विनं पुरुषं पीडयति । राहुः केवलं मस्तकावशेषः तथापि सूर्यचन्द्रौ पीडयति अतःशत्रुं पूर्णतः हन्यात् ।

अनुवाद—बृहस्पति आदि पाँच छः और भी श्रेष्ठ ग्रह आकाश में हैं, परन्तु विशेष पराक्रम की इच्छा करनेवाला राहु उनसे वैर नहीं करता । देखो, अमावस्या और पूर्णिमा को दानवराज राहु, जिसका एक मस्तक ही शेष रहा है, भटकता हुआ दिनेश्वर सूर्य और रात्रि के प्राणेश्वर चन्द्रमा— दो ही तेजस्वी ग्रहों को ग्रसता है ।

वहति भुवन-श्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते ॥
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ ३८ ॥

अन्वय—शेषः भुवन श्रेणीम् फणाफलकस्थितां वहति, सः कमठपतिना मध्ये पृष्ठम् सदा विधार्यते, तम् अपि, पयोधिः अनादरात् क्रोडाधीनम् कुरुते, अहह महताम् चरित्रविभूतयः निःसीमानः ।

भावार्थ—अत्र शेषस्य स्वफणेषु भुवनधारणम्, कच्छपस्य च स्वपृष्ठे शेष-धारणम्, समुद्रस्य च अनायासं कच्छपस्य शूकराधीनं करणम्, इमानि उदाहरणानि सिद्धयन्ति यत् महताम् चरित्राणि सीमारहितानि भवन्ति ।

अनुवाद—शेषनाग चौदहों भुवनों की पंक्ति को अपने फण-मण्डल पर धारण करते हैं, उन शेषजी को कच्छपराज अपनी पीठ पर धारण करते हैं । उन कच्छपराज को भी समुद्र ने अनायास वाराह भगवान के अधीन कर दिया है । इन सबसे यह सिद्ध होता है कि श्रेष्ठ जनों के चरित्र की विभूति सीमित नहीं है ।

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिश-
प्रहारैरुद्गच्छद्बहलदहनोद्गारगुरुभिः ॥
तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे
न चासौ संपातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥ ३९ ॥

अन्वय—तुषाराद्रे सूनोः उद्गच्छद्बहलदहनोद्गारगुरुभिः समदमघवन्मुक्त-कुलिशप्रहारैः पक्षच्छेदः वरम् क्लेशविवशे पितरि पयसाम् पत्युः पयसि असौ संपातः उचितः न ।

भावार्थ—हिमालयस्य पुत्रः मैनाकः अग्निस्फुलिंगभयानकैः मदमत्तस्य सुरराजस्य वज्रप्रहारैः स्वप्राणान् रक्षयितुं सागरे पतित्वा क्लेशपीडितं जनकं हिमालयं त्यक्त्वा अनुचितं कृतवान् । क्लेशादिभिः पीडितं जनकं त्यक्त्वा अन्यत्र स्वप्राणरक्षणम् पुत्राय उचितम् न भवति ।

अनुवाद—हिमालय के पुत्र मैनाक का निकलती हुई तीव्र अग्नि की ज्वालाओं से कठिन, मद से भरे इन्द्र के द्वारा चलाये वज्र के प्रहारों से पंख कटवा लेना श्रेष्ठ होता है, परन्तु कष्ट में विवश पिता हिमालय को छोड़कर जलराज समुद्र के जल में गिरकर अपने पंख बचाना उचित नहीं था ।

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ॥
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते ॥ ४० ॥

अन्वय—यत् अचेतनः अपि इनकान्तः सवितुः पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति तत् तेजस्वीं पुरुषः परकृतविकृतिम् कथम् सहते ।

भावार्थ—यथा जड़सूर्यकान्तमणिः अपि सूर्यकिरणस्पर्शेण (पादप्रहारेण) प्रज्वलति, तथा तेजस्वी पुरुषः अन्यकृतम् अपमानं कदापि न सहते ।

अनुवाद—जब अचेतन जड़ सूर्यकान्तमणि भी सूर्य किरणों के प्रखर प्रहार से जल उठती है, तब तेजस्वी पुरुष दूसरे से किये अपने अपमान को कैसे सह सकता है ? अर्थात् महान पुरुष अपने अपमान को कभी नहीं सह सकते ।

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिन कपोलभित्तिषु गजेषु ॥

प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥ ४१ ॥

अन्वय—शिशुः अपि सिंहः मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु निपतति, इयम् सत्त्ववताम् प्रकृतिः वयः खलु तेजसः हेतुः न।

भावार्थ—सिंहस्य बालः अपि यत् मत्तगजेषु आक्रमणं करोति तेन सिद्धं भवति यत् तेजस्विनां तेजोहेतुः आयुः न भवति अपितु तेषां स्वाभावमेव तेजसः कारणम्।

अनुवाद—बालक सिंह भी मद से मलीन गण्डस्थलवाले हाथियों पर आक्रमण करता है। यह तेजस्वियों का स्वभाव ही है; आयु तेज का कारण नहीं होती।

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना॥
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन बिना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे॥ ४२॥

अन्वय—जातिः रसातलं यातु, गुणगणः तस्य अपि अधः गच्छताम्, शीलम् शैलतटात् पततु, अभिजनः वह्निना संदह्यताम्, वैरिणि शौर्ये आशु वज्रम् निपततु, नः केवलम् अर्थः अस्तु, येन एकेन विना इमे समस्ताः गुणाः तृणलवप्रायाः।

भावार्थ—अस्मिन् संसारे धनं मुख्यं वस्तु अस्ति। द्रव्याभावे जातिः गुणाः, कुटुम्बिनः, शीलम्, वीरतादयः सर्वे निष्फलाः, तृणसमानाः भवन्ति।

अनुवाद—जाति रसातल में जाय, समस्त गुण उससे भी नीचे चले जायँ, शील शैल के तट से गिरकर नष्ट हो जाय, कुटुम्बीजन अग्नि में जल जायँ, वीरतारूपी शत्रु पर वज्रपात हो जाय, परन्तु हमारे पास धन अवश्य हो, जिसके बिना ये समस्त गुण तृण के टुकड़ों के समान हैं।

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव॥
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥ ४३॥

अन्वय—तानि सकलानि इन्द्रियाणी, तत् एव कर्म, सा अप्रतिहता बुद्धिः, तत् एव वचनम्, सः एव अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः तु क्षणेन अन्यः भवति, इति एतत् विचित्रम् ।

भावार्थ—विना द्रव्येण पुरुषः निरर्थकः भवति । तस्य इन्द्रियाणि, कर्माणि मतिः, वचनानि यद्यपि पूर्ववत् भवन्ति, परन्तु द्रव्याभावे तस्य इदं सर्वम् न किंचित् । अतः पुरुषेण द्रव्यम् अवश्यं सम्पादनीयम् ।

अनुवाद—वे ही सब इन्द्रियाँ हैं, वे ही सब कार्य हैं, वही प्रबल बुद्धि है, और वचन भी वे ही हैं, परन्तु द्रव्य की उष्णता से रहित मनुष्य क्षणमात्र में ही कुछ और हो जाता है—यह संसार की विचित्र गति है ।

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ।। ४४ ।।

अन्वय—यस्य वित्तम् अस्ति सः नरः कुलीनः, सः पण्डितः, सः श्रुतवान्, सः गुणज्ञः, सः एव वक्ता, सः च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चनम् आश्रयन्ति ।

भावार्थ—यः नरः धनी स एव गुणी, कुलीनः, विद्वान्, शास्त्रज्ञः, वक्ता, सुन्दरः यत् सर्वे गुणाः काञ्चनम् आश्रयन्ति । धनाभावे सर्वे गुणाः व्यर्थाः । कुलीनः, गुणी, शास्त्रज्ञः, विद्वान्, वक्ता, सुदर्शनोपि नरः धनाभावे व्यर्थतामुपयाति न तस्य एते गुणाः लाभप्रदाः । धनी नरस्तु उपर्युक्तगुणाभावेऽपि स्वतः एव सकलगुणवान् संजायते । इद स्पष्टम् अस्ति यत् कांचनेनैव सर्वे गुणाः प्रकाशन्ते ।

अनुवाद—जिसके पास धन है, वही मनुष्य कुलीन है, वही विद्वान् है, वही शास्त्रज्ञ है, वही गुणी है, वही वक्ता है, वही दर्शनीय है । इससे सिद्ध होता है कि समस्त गुण स्वर्ण के ही आश्रय में रहते हैं ।

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात्सुतो लालनाद्
विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रया-
न्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ।। ४५ ।।

अन्वय—नृपतिः दौर्मन्त्र्यात्, यतिः संगात्, सुतः लालनात्, विप्रः अनध्ययनात्, कुलम् कुतनयात्, शीलम् खलोपासनात्, ह्रीः मद्यात्, कृषिः अपि अन-

वेक्षणात्, स्नेहः प्रवासाश्रयात्, मैत्री अप्रणयात्, समृद्धिः अनयात्. धनम् त्यागात्, प्रमादात् च विनश्यति ।

भावार्थ—कुमन्त्री नृपं, कुसंगतिः साधुं, लालनं पुत्रं, अनध्ययनं ब्राह्मणम्, कुपुत्रः वंशं, दुष्टःसेवा शीलं, मदिरापानं लज्जाम्, अनवलोकम् कृषिं, प्रवासे निवसनं स्नेहं, स्नेहाभावः मित्रताम्, अन्यायः ऐश्वर्यं, अलसता त्यागश्च धनं नाशयति ।

अनुवाद—राजा दुष्ट मंत्रणा से, साधु कुसंगति से, पुत्र लाड़ से, ब्राह्मण अध्ययन न करने से, वंश कुपुत्र से, शील दुष्टों की सेवा से, लज्जा मद्यपान से, खेती उचित रूप से देख-भाल न करने से, प्रेम परदेश में रहने से, मित्रता प्रेम के अभाव से, ऐश्वर्य अन्याय से तथा धन त्याग और आलस्य से नष्ट हो जाता है ।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ॥
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ ४६ ॥

अन्वय—दानम् भोगः नाशः वित्तस्य तिस्रः गतयः भवन्ति, यः न ददाति, न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिः भवति ।

भावार्थ—संसारे धनस्य तिस्रः एव स्थितयः । दाने, उपभोगे अथवा नाशे एव अस्य उपयोगः भवति । यः पुरुषः सत्पात्रेषुः धनं न ददादि न उपभोगं कुरुते तस्य धनस्य तृतीया गतिः भवति । अतः मनुष्याय उचितं यत् धनस्य दानम्, उपभोगश्च कुर्यात् अन्यथा अनयोरभावे तस्य धनं नष्टमेव भविष्यति ।

अनुवाद—धन की तीन गतियाँ होती हैं—दान, भोग और नाश । जो न देता है, न उपभोग करता है, उसके धन की तीसरी गति ही होती है अर्थात् उसका धन नष्ट हो जाता है ।

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो
मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः ॥
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना-
स्तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥ ४७ ॥

अन्वय—शाणोल्लीढः मणिः, हेतिनिहितः समरविजयी, मदक्षीणः नागः, शरदि श्यानपुलिनाः सरितः, कलाशेषः चन्द्रः, सुरतमृदिता वालललना, अर्थिषु गलितविभवाः नृपाः तनिम्ना शोभन्ते ।

भावार्थ—यथा कृशतया निकषपाषाणेन उल्लिखितः मणिः शोभते, युद्धे क्षतैर्युक्तः भटः, शरत्काले शुष्कजलनिर्मुक्ततटाः नद्यः, द्वितीया चन्द्रः, सुरत-क्लान्ताङ्गा वाला च शोभते तथैव वहुदानवितरणात् दरिद्रीभूताः नृपाः शोभन्ते ।

अनुवाद—सान से खरादी हुई मणि, युद्ध में शस्त्रों से घायल हुआ वीर, मद से क्षीण हाथी, शरदृतु की सूखे तटभाग वाली नदियाँ, द्वितीया का चन्द्र, सुरत में मर्दन की हुई वाला स्त्री और याचकों को दान देने से दरिद्र हुए नृप, इन सवकी दुर्वलता से ही शोभा है ।

> परिक्षीणः कश्चित् स्पृहयति यवानां प्रसृतये
> स पश्चात्संपूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम् ॥
> अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयाऽर्थेषु धनिना-
> मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥ ४८ ॥

अन्वय—कश्चित् परिक्षीणः यवानाम् प्रसृतये स्पृहयति, सः पश्चात्, सम्पूर्णः धरित्रीम् तृणसमाम् कलयति, अतः धनिनाम् अनैकान्त्यात् अवस्था अर्थेषु गुरुलघुतया, वस्तूनि प्रथयति, संकोचयति च ।

भावार्थ—अवस्थाभेदेन एव पदार्थाः गुरुवः लघवश्च प्रतीयन्ते, अन्यं कार-णन्न । उदाहरणार्थम् यथा एकः मनुष्यः दरिद्रावस्थायां स्वल्पमणि वस्तु वांछति, स एव धनागमे लक्षरूप्यकाणि अपि न किंचित् मन्यते ।

अनुवाद—जव कोई दरिद्र होता है तो अंजलिभर जौ की इच्छा करता है और जव वह सर्व-सम्पन्न हो जाता है अर्थात् धनवान् हो जाता है, तव सारी पृथ्वी को तृण के समान समझता है, अतः ये ही दोनों चंचल अवस्थाएँ पुरुष को वड़ा और छोटा बनाती हैं और वस्तुओं को फैलाती और समेटती हैं । अर्थात् दरिद्र होने पर अल्प मूल्य की वस्तु भी वहुमूल्य लगती है और धनी हो जाने पर वड़ी संपत्ति भी तुच्छ लगने लगती है ।

राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ॥
तस्मिश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥ ४९ ॥

अन्वय—हे राजन्, यदि एनाम् क्षितिधेनुम्, दुधुक्षसि, तेन अमुं लोकं वत्सं इव पुषाण, तस्मिन् सम्यक् परिपोष्यमाणे भूमिः कल्पलता इव अनिशम् नाना-फलैः फलति ।

भावार्थ—यथा धेनुः वत्से परिपुष्टे सति सम्यक् प्रकारेण दुग्धं ददाति तथैव यदा राजा लोकरूपिणं वत्सं सम्यक् परिपालयति तदा इयं धेनुरूपिणी धरित्री फलवती भवति । अतः कल्याणेच्छुकः नृपः सम्यक् प्रजापालनं कुर्यात् ।

अनुवाद—हे राजन्, यदि इस पृथ्वीरूपी गौ को दुहना चहते हो तो इस प्रजा का बछड़े की भाँति पालन करो । इसे सम्यक् रूप से पोषित किये जाने पर यह पृथ्वी कल्पलता के समान निरन्तर अनेक प्रकार से फल देती है ।

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ॥
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ५० ॥

अन्वय—(कुत्रचित्)सत्या, (कुत्रचित्) च अनृता (कुत्रचित्) परुषा, (कुत्रचित्) च प्रियवादिनी, (कुत्रचित्) हिंस्रा (कुत्रचित्) अपि दयालुः (कुत्रचित्) अर्थपरा, (कुत्रचित्) वदान्या (कुत्रचित्), नित्यव्यया (कुत्रचित्) च प्रचुर नित्यधनागमा, नृपनीतिः वेश्याङ्गना इव अनेक रूपा ।

भावार्थ—यथा वेश्या सत्यवादिनी, असत्यभाषिणी, कठोरा, मृदुभाषिणी, हिंस्रा, क्षमशीला, लोभिनी, उदारा, व्ययशालिनी, धनसंचयकर्त्री च समये-समये भवति तथैव राजनीतिरपि अनेकरूपाणि यथा समयं धारयति ।

अनुवाद—कहीं सत्य, कहीं असत्यवादिनी, कहीं कठोर, कहीं प्रिय बोलने वाली, कहीं हिंसक, कहीं दयालु, कहीं लोभी और कहीं उदार, कहीं नित्य व्यय करने वाली और कहीं अत्यन्त संचय करने वाली, राजनीति वेश्या के समान अनेक रूपवाली होती है ।

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च ।।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ।। ५१ ।।

अन्वय—येषाम् विद्या, कीर्तिः ब्राह्मणानां पालनम्, दानं, भोगः मित्रसंरक्षणम् च एते षड्गुणाः न प्रवृत्ताः, तेषाम् पार्थिवोपाश्रयेण कः अर्थः ।

भावार्थ—विद्यादिषड्गुणा पुरुषाणामपेक्षिताः, तद्विना तेषां नृपाश्रयो व्यर्थः ।

अनुवाद—विद्या, यश, ब्राह्मणों का पालन, दान, भोग और मित्रों की रक्षा, ये छः गुण जिनमें नहीं हैं, उन्हें राजा का आश्रय करने से क्या फल है ।

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाऽधिकम् ।।
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्ति वृथा मा कृथाः
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ।। ५२ ।।

अन्वय—धात्रा यत् स्तोकम् महत् वा धनं निजभालपट्टलिखितम् तत् नितराम् मरुस्थले अपि प्राप्नोति, ततः अधिकम् मेरौ न, तत् धीरः भव, वित्तवत्सु कृपणाम् वृत्तिम् वृथा मा कृथाः, पश्य घटः कूपे पयोनिधौ अपि तुल्यम् जलम् गृह्णाति ।

भावार्थ—मनुष्यः स्वभाग्यानुसारं महत् अथवा अल्पं धनं प्राप्नोति, सः मरुभूमौ स्यात् उत सुमेरौ गच्छेत्, अधिकं न प्राप्स्यति । अतः जनैः धैर्यं धारयित्वा धनिषु व्यर्थ याचना न करणीया । घटः समुद्रे पतेत् कूपे वा पतेत्; सममेव जलं प्राप्नोति । तथैव जनः अपि स्वप्रारब्धानुसारं धनं प्राप्नोति अधिकं न ।

अनुवाद—विधाता ने थोड़ा अथवा बहुत धन जो अपने ललाटरूपी पट्ट पर लिख दिया है वह निश्चय ही मरुभूमि में भी प्राप्त होता है, उससे अधिक सुमेरु पर्वत पर भी नहीं मिलता, इसलिए धैर्य धारण करो और व्यर्थ में धनियों के निकट याचना न करो । देखो, घड़ा कुएँ में डाला जाय अथवा समुद्र में, जल स्वपरिमाणानुसार बराबर ही ग्रहण करता है ।

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः ॥
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे ॥ ५३ ॥

अन्वय—हे अम्भोदवर, त्वम् एव चातकाधारः असि, इति केषां न गोचरम् (तस्मात्) अस्माकम् कार्पण्योक्तिं किम् प्रतीक्षसे ।

भावार्थ—(इदं मेघं प्रति चातकस्य उक्तिः अस्ति) । मेघः एव चातकस्य प्राणाधारः इति प्रसिद्धः अस्ति तदा तेन तस्य दोनवचनानां प्रतीक्षया विना वृष्टिः कर्त्तव्या ।

अनुवाद—(यह मेघ के प्रति चातक की उक्ति है) हे श्रेष्ठमेघ, तुम ही चातक के आधार हो यह कौन नही जानता ? अर्थात् सब जानते हैं कि मेघ ही चातक के प्राणाधार हैं । तब तुम हमारे दीन वचनों की प्रतीक्षा क्यों करते हो ? अर्थात् मेघ को चातक की दीन पुकार के बिना ही वृष्टि कर देनी चाहिए ।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवोहि सन्ति गगने सर्वेतु नैतादृशाः ॥
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥ ५४ ॥

अन्वय—रे रे चातक मित्र सावधानमनसा क्षणं श्रूयताम्, गगने वहवः अंभोदा सन्ति; सर्वे अपि एतादृशाः न, केचित् वसुधाम् वृष्टिभिः आर्द्रयन्ति, केचित् वृथा गर्जन्ति, यम् यम् पश्यसि तस्य तस्य पुरतः दीनम् वचः मा ब्रूहि ।

भावार्थ—चातक निर्देशेण कविः अस्मान् उपदेशं ददाति । गगने वहवः मेघाः सन्ति परन्तु सर्वेऽपि सकरुणाः न । केचित् पृथिवीं सजलां कुर्वन्ति केचित् व्यर्थं गर्जनां कुर्वन्ति, अतः सर्वेषाम् अग्रे चातकस्य दीनोक्तिर्न युक्ता । अनेन दृष्टान्तेन कविः वर्णयति यत् संसारे दानिनः कृपणाः या वहुविधाः जनाः सन्ति, केचित् ददति केचित् व्यर्थमेव घटाटोपं दर्शयन्ति अतः सर्वेभ्यः याचनम् न युक्तम् ॥

अनुवाद—हे मित्र चातक, सावधान मन से क्षणभर सुन, आकाश में बहुत से मेघ हैं पर सब ऐसे नहीं हैं, कुछ तो वर्षा करके पृथ्वी को धनधान्य बनाते हैं और कुछ व्यर्थ ही गर्जन करके चले जाते हैं । अतः हर लोगों के सम्मुख अपनी दीनता की याचना मत करो ।

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरं
त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः ।
विपद्युच्चैर्धैर्यं पदमनुविधेयं च महतां
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ।। ५५ ।।

अन्वय—प्रिया न्याय्या वृत्तिः, असुभङ्गे अपि मलिनम् असुकरम्, तु असन्तः न अभ्यर्थ्याः, कृशधनः सुहृद् अपि न याच्यः, विपदि उच्चैर्धैर्यम्, महतां च पदम् अनुविधेयम्—इदं विषमम् असिधाराव्रतं सतां केन उद्दिष्टम् ?

व्याख्या—प्रिया—इष्टा, न्याय्या—न्याययुक्ता, वृत्तिः—वर्तनम्, असुभङ्गे—प्राणनाशे, अपि, मलिनं—निन्द्यं कर्म, असुकरम्—दुष्करम् अकर्तव्यमिति यावत्, तु—पुनः, असन्तः—दुर्जनाः, न अभ्यर्थ्याः—न प्रार्थनीयाः, कृशधनः—क्षीणवित्तः, सुहृद् अपि—मित्रमपि, न याच्यः—न प्रार्थनीयः, विपदि—आपदि, उच्चैर्धैर्यम्—उच्चधीरता, महतां च—महापुरुषाणां च, पदम्—मार्गः, अनुविधेयम्—अनुवर्तनीयम् इदम्—एतत्, विषमं—कठिनम्, असिधाराव्रतं—खड्गधारेव तीक्ष्णतरो नियमः, सतां—सत्पुरुषाणां, केन—पुरुषेण, उद्दिष्टम्—उपदिष्टम् ?

भावार्थ—सज्जना न्यायोचितं व्यवहारं कुर्वन्ति, प्राणान्तकालेऽपि गर्हितं कर्म न विदधति, असज्जनान् तथा कृशधनान् सुहृदः अपि ते न किञ्चित् याचन्ते विपदि महद् धैर्यं धारयन्ति, सदा महापुरुषाणां सरणिमवलम्बन्ते; इत्थं ते महाकठिनम् असिधाराव्रतं पालयन्ति ।

अनुवाद—प्रिय और न्याययुक्त व्यवहार, प्राणों का नाश होने पर भी पापकर्म नहीं करना, दुर्जन से कुछ नहीं माँगना, निर्धन मित्र से याचना न करना, विपत्ति में महान् धैर्य रखना और महापुरुषों के मार्ग का अनुसरण करना—यह कठिन तलवार की धार पर चलने के समान व्रत सज्जनों को किसने बतलाया है ?

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा ।

सुजनबंधुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनम् ।। ५६ ।।

अन्वय—अकरुणत्वम्, अकारणविग्रहः, परधने, परयोषिति च स्पृहा, सुजन-वंधुजनेषु असहिष्णुता, इदम् हि दुरात्मनम् प्रकृतिसिद्धम् ।

भावार्थ—दुरात्मनां स्वभावतः एव निष्करुणाः, व्यर्थं कलहकारकाः, परवित्तेषु, नारीषु, च इच्छुकाः स्वजनानां बन्धूनां च वचनानां न श्रोतारः भवन्ति ।

अनुवाद—दया न करना, अकारण ही लड़ाई-झगड़ा करना, दूसरे के धन और स्त्री की इच्छा करना, अपने कुटुम्ब और मित्रों की बात न सहना ये बातें दुष्टजनों को ही शोभनीय होती हैं ।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ॥
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ स भयङ्करः ॥ ५७ ॥

अन्वय—विद्यया लङ्कृतो अपि सन् दुर्जनः परिहर्तव्यः, असौ मणिना भूषितः सर्पः किम् भयङ्करः न ?

भावार्थ—यथा मणियुक्तः सन् अपि सर्पः भयप्रदः भवति तथैव विद्वान् अपि दुष्टजनः भयप्रदः भवति । विद्यालङ्कृतस्य दुर्जनस्य संगतिः अपि मनुष्याय कष्टप्रदा भवति अतः दुर्जनं सर्वथा परित्यजेत् ।

अनुवाद—विद्या से भूषित होने पर भी दुर्जन का परित्याग ही करना चाहिए, क्योंकि मणियुक्त होने पर भी सर्प क्या भयंकर नहीं होता ? अर्थात् सर्प सदैव भयंकर होता है चाहे वह मणियुक्त हो अथवा नहीं, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति विद्वान् होने पर भी सदैव त्याज्य है ।

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ॥
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरिता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥ ५८ ॥

अन्वय—ह्रीमति, जाड्यम्, व्रतरुचौ दम्भः, शुचौ कतैवम्, शूरे निर्घृणता, ऋजौ विमतिता, प्रियालापिनि दैन्यं, तेजस्विनि अवलिप्तता, वक्तरि मुखरता, स्थिरे अशक्तिः गण्यते तत गुणिनाम् कः नाम सः गुणः यः दुर्जनैः अंकितः न ।

भावार्थ—यद्यपि लज्जाशीलता, व्रतरुचिता, पवित्रता, शूरता, ऋजुता, प्रियभाषणम्, तेजस्विता, वक्तृत्वशक्तिः, स्थिरता च गुणाः सन्ति, एभिः अलंकृतः पुरुषः श्रेष्ठः भवति, तथापि दुर्जनाः इमान् गुणान् जड़तादिक-दोषत्वेन एव मन्यन्ते । गुणविशिष्टानां पुरुषाणां सर्वैः गुणाः दुर्जनैः दोषत्वेन कल्प्यन्ते ।

अनुवाद-- दुर्जन लज्जावान् पुरुष को शिथिल, व्रतधारी को अभिमानी, पवित्र को पाखण्डी, वीर को निर्दय, सीधे को मूर्ख, प्रियवादी को दीन, तेजस्वी को गर्वयुक्त, वक्ता को बकवादी और स्थिर चित्तवाले को आलसी कहते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि गुणियों में कौन-सा वह गुण है, जिसे दुर्जन कलंक नहीं लगाते; अर्थात् दुष्ट प्रवृत्ति के लोग गुणों को भी दोष ही मानते हैं ।

लोभश्चेद्गुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः ।
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ॥
सौजन्यं यदि किं निजैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः ।
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥५९॥

अन्वय—लोभः चेत् अगुणेन किम्, यदि पिशुनता अस्ति, पातकैः किम्, सत्यं चेत् तपसा च किम्, यदि शुचिः मनः अस्ति तीर्थेन किम्, यदि सौजन्यम् निजैः किम्, यदि सुमहिमा अस्ति मंडनैः किम्, यदि सद्विद्या धनैः किम्, यदि अपयशः अस्ति, मृत्युना किम् ।

भावार्थ—लोभः महत्तमः अगुणः, पिशुनता सर्वपापेभ्यः महान् पापः, सत्यभाषणं तपसा श्रेष्ठः, पवित्रंमनः तीर्थयात्रयाऽधिकं लाभप्रदम्, सुजनतया सर्वे बांधवाः भवन्ति, सुयशसा जनः न अन्यमण्डनमपेक्षते, सद्विद्यां सम्प्राप्य न धनस्य आवश्यकता, अपकीर्तिश्च मृत्युनाऽपि कष्टकरा भवति ।

अनुवाद—लोभ है तो अवगुण से क्या, नीचता है तो पापों की क्या जरूरत ? सत्य है तो तप करने से क्या, मन शुद्ध है तो तीर्थ करने से क्या लाभ ? सज्जनता है तो मित्र एवं कुटुम्ब की क्या जरूरत, यदि यश प्राप्त है तो श्रृंगार से क्या लाभ ? यदि सद्विद्या है तो और धन की क्या आवश्यकता, यदि अपयश प्राप्त है तो मृत्यु पाने से क्या ?

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ॥

प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपांगनगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥६०॥

अन्वय—दिवसधूसरः शशी, गलितयौवना कामिनी, विगतवारिजं सरः, स्वाकृतेः अनक्षरम् मुखम्, धनपरायणाः प्रभुः, सततदुर्गतः सज्जनः, नृपांगनगतः खलः, मे मनसि सप्त शल्यानि ।

भावार्थ—दिवसे मलिनः चन्द्रः विगतयौवना स्त्री, कमलहीनं सरोवरम् सुन्दराकृतिः जनः मूर्खः कृपणः स्वामी, दरिद्रः सज्जनः, राजसभायां च खलः, एतत् सर्वं विलोक्य, सुविचारी सज्जनः दुःखमाप्नोति ।

अनुवाद—दिन में मलिन चन्द्र, यौवनहीन स्त्री, कमलहीन सरोवर, सुन्दर स्वरूपवाले का अक्षरहीन मुख, भद्र स्वामी, दरिद्र सज्जन और राजसभा में दुष्टजन ये सातों मेरे हृदय में काँटे के समान गड़ते हैं ।

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् ॥
होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥६१॥

अन्वय—चण्डकोपानम् भूभुजाम् आत्मीयः नाम कश्चित् न, स्पृष्टः पावकः जुह्वानम् होतारम् अपि दहति ।

भावार्थ—यथा अग्निः स्वस्पर्शकारकमपि दहति न सः होतारमपि गणयति तथैव क्रोधशीलाः नृपाः आत्मीयान् अपि क्रोधाभिभूताः सन्तः दण्डयन्ति, अतः तेषां कोपि आत्मीयो न भवति ।

अनुवाद—क्रोध करनेवाले राजाओं का कोई आत्मीय नहीं होता; क्योंकि हवन करने वाले व्यक्ति को प्रज्ज्वलित अग्नि छू जाने पर जला देती है ।

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ॥
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥६२॥

अन्वय—मौनात् मूकः, प्रवचन पटुः वातुलः वा जल्पकः, पार्श्वे वसति तदा धृष्टः, दूरतः च अप्रगल्भः, क्षान्त्या भीरुः, यदि न सहते प्रायशः अभिजातः न (तेन) योगिनाम् अपि अगम्यः सेवा धर्मः परमगहनः ।

भावार्थ—सेवाधर्मः परम कठिनः भवति। योगिनः अपि न तस्य पारं यान्ति। प्रत्येक दशायां सः अपमानभाजकः। यदि सः मौनः तर्हि मूकः कथ्यते, वक्ता सन् वातुलः कथ्यते, निकटवासी सन् धृष्टः, दूरवासी च मूर्खः कथ्यते। यदि सः क्षमाशीलः तर्हि भीतः, असहनशीलश्च अकुलीनः कथ्यते।

अनुवाद—सेवा करने वाला व्यक्ति मौन रहने से गूँगा, वक्ता होने से वाचाल, समीप रहने से धृष्ट और दूर रहने से मूर्ख, क्षमा करने से डरपोक और असहनशील होने से अकुलीन कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि सेवाधर्म परम कठिन है, वह योगियों को भी अगम्य है।

उद्भासिताखिलखलस्य विश्रृंखलस्य
प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः ॥
दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य
नीचस्य गोचरगतैः सुखमाप्यते कैः ॥६३॥

अन्वय—उद्भासिताखिलखलस्य, विश्रृंखलस्य, प्राग्जातिविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः, दैवात् अवाप्तविभवस्य, गुणद्विषः, अस्य नीचस्य गोचरगतैः कैः सुखम् आप्यते।

भावार्थ—प्राकृत्या महादुष्टस्य, निरंकुशस्य, यस्य च पूर्वजन्मनि कृतानाम् पापकर्मणाम् अस्मिन् जन्मनि उदयः भूतः तस्य, भाग्यवशात् प्राप्तसंपत्तेः, गुणानां शत्रोः, नीचजनस्य समीपे वासं कृत्वा न कोऽपि सुखं प्राप्नोति।

अनुवाद—समस्त दुष्ट प्रवृत्तियों को प्रकट करनेवाले, निरंकुश, जिसके पूर्वजन्म के नीच कर्म उदय हो रहे हैं, ऐसे भाग्य से प्राप्त सम्पत्तिवाले, गुणों के शत्रु नीच के निकट आकर किसने सुख पाया है? अर्थात् आशय यह है कि दुष्ट मनुष्य के पास रहकर कोई सुखी नहीं रह सकता।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ॥
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥६४॥

अन्वय—आरंभगुर्वी, क्रमेण क्षयिणी, लघ्वी पुरा, पश्चात् च वृद्धिमती दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना, छाया इव, खलसज्जनानाम् मैत्री (भवति)।

भावार्थ—दुष्टानां मित्रता आरंभे दिनस्य पूर्वभागस्य छाया इव महती भवति, पश्चात् च क्षीयते, सज्जनानां च मित्रता दिनस्य उत्तरभागस्य छाया

इव, आरम्भे लघ्वी भवति, पश्चात् च क्रमशः वृद्धि प्राप्नोति। अतः दिनस्य-पूर्वार्धपरार्धविभागसम्बन्धिइच्छायेव खलसज्जनयोर्मैत्री भवति।

अनुवाद—आरम्भ में बड़ी फिर क्रम से घटनेवाली, पहले छोटी फिर धीरे-धीरे बढ़नेवाली, दिन के पहले भाग और दूसरे भाग की छाया की भाँति दुष्टों और सज्जनों की मित्रता होती है।

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् ॥
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥६५॥

अन्वय—जगति, लुब्धधीवरपिशुनाः तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् मृगमीन-सज्जनानाम्, निष्कारणवैरिणः भवन्ति।

भावार्थ—अस्मिन् संसारे मृगः तृणेन, मत्स्यः जलेन, सज्जनश्च संतोषेन स्वजीवनयापनं करोति परन्तु लुब्धः व्याधः मृगस्य, धीवरः मत्स्यस्य, कुटिलाश्च सज्जनस्य अकारणमेव वैरी भवन्ति।

अनुवाद—संसार में व्याध, धीवर और कुटिल जन, तृण, जल और संतोष द्वारा अपनी जीविका करनेवाले हरिण, मछली और सज्जनों के बिना कारण ही वैरी होते हैं।

वांछा सज्जनसंगमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
ष्वेते निवसंति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥६६॥

अन्वय—सज्जनसंगमे वांछा, परगुणे प्रीतिः, गुरौ नम्रता, विद्यायाम् व्यसनम् स्वयोषिति रतिः, लोकापवादात् भयम्, शूलिनि भक्तिः, आत्मदमने शक्तिः खलेषु संसर्गमुक्तिः, एते निर्मलगुणाः येषु निवसन्ति, तेभ्यः नरेभ्यः नमः।

भावार्थ—ते नराः नमस्कारार्हाः ये सद्भिः सह वस्तुं वाञ्छन्ति, परगुणेषु स्नेहं कुर्वन्ति, गुरुषु नम्रत्वं दर्शयन्ति, येषां विद्या व्यसनम्, येषां च स्वभार्यां प्रति स्नेहभावः ये लोकनिन्दया भीताः भवन्ति, ये च भगवत्भक्ताः, येषां च शक्तिः मनोदमने, ये च खलैः सह वस्तुं नेच्छन्ति।

अनुवाद—सज्जन-संगति की इच्छा, दूसरे के गुण में प्रेम, बड़ों के प्रति नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी पत्नी से प्रेम, लोकनिन्दा से भय, शिव में भक्ति

आत्मा के दमन में शक्ति, दुर्जनों के संग का त्याग, ये निर्मल गुण जिन जनों में हैं, उन जनों को नमस्कार है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ॥
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥६७॥

अन्वय— विपदि धैर्यम्, अथ अभ्युदये क्षमा, सदसि वाक्पटुता, युधिविक्रमः यशसि च अभिरुचिः, श्रुतौ व्यसनम्, इदम् हि महात्मनाम् प्रकृतिसिद्धम्।

भावार्थ—महात्मानः स्वभावतः एव विपत्तौ धैर्यधारिणः, ऐश्वर्ये क्षमाशालिनः भवन्ति। ते सभामध्ये निजवाणीचातुर्यं, युद्धे च वीरतां दर्शयन्ति, तेषां रुचिः यशःप्रदकार्यकरणे, व्यसनं च शास्त्रचर्चायाम् भवति।

अनुवाद — विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में वाणी का चातुर्य, युद्ध में शौर्य, कीर्ति में रुचि, शास्त्र-चर्चा में व्यसन ये बातें महान व्यक्तियों में स्वाभाविक ही होती हैं।

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं नाप्युपकृतेः ॥
अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥६८॥

अन्वय—प्रदानम् प्रच्छन्नम्, गृहम् उपगते संभ्रमविधिः, प्रियं कृत्वा मौनम्, सदसि उपकृतेः अपि कथनम्, लक्ष्म्याम् अनुत्सेकः, परकथाः निरभिभवसाराः, इदं विषमम् असिधाराव्रतं सतां केन् उद्दिष्टम्।

भावार्थ—सन्तः स्वभावेनैव गुप्तदानम् अभ्यागतस्य च सत्कारं कुर्वन्ति; परप्रियं कृत्वा मौनाः निवसन्ति, अन्यकृतोपकारं च सभायां वर्णयन्ति, धनं सम्प्राप्य निरभिमानाः निवसन्ति, निन्दारहितां च परकथां कथयन्ति। यद्यपि इदं कृपाणधारावत्कठिनं व्रतं तथापि सन्तः विनोपदेशेन एव एतत् सर्वं परिपालयन्ति।

अनुवाद— दान गुप्त करना, घर आये हुए का सत्कार करना, परोपकार करके मौन रहना, दूसरे के द्वारा किये उपकार का सभा में कथन कर देना, ऐश्वर्य पाकर गर्व न करना, दूसरे की निंदारहित चर्चा करना, इस प्रकार तल-

वार की धार से कठोर व्रत का सज्जनों को किसने उपदेश दिया है ? अर्थात् किसी ने नहीं। यह तो उनकी प्रवृत्ति ही होती है।

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।।
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलं
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ।।६९।।

अन्वय—करे श्लाघ्यः त्यागः, शिरसि गुरुपादप्रणयिता, मुखे सत्या वाणी, भुजयोः विजयि अतुलम्, वीर्यम्, हृदि स्वच्छा वृत्तिः अधिगतैकव्रतफलम् श्रुतम्, इदम् ऐश्वर्येण विना अपि प्रकृतिमहताम् मण्डनम्।

भावार्थ—विभवं विनाऽपि स्वाभाविकमहापुरुषाणाम् हस्ते दानशीलता, मस्तके गुरुचरणेषु विनम्रता, मुखे सत्यवादित्वम्, भुजयोः विजय-प्रदानकारकं निरुपमं वलं हृदये च स्वच्छा व्यापारः भवति तथा च ते तस्यैव शस्त्रस्य अध्ययनं कुर्वन्ति येन ईश्वरप्राप्तिः स्यात्। एभिर्गुणैरेव महतां शृंगारः भवति, न तु धनेन।

अनुवाद—हाथ में प्रशंसनीय दान, सिर में गुरुचरणों में प्रणाम करने की प्रवृत्ति, मुख में सत्य वाणी, भुजाओं में विजयी वनानेवाला अनुपम वल, हृदय में स्वच्छ व्यापार, एक मुख्य व्रत अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति करानेवाला फलदायक शास्त्राध्ययन, ये सव ऐश्वर्य के विना भी स्वाभाविक रूप से महापुरुषों के शृंगार हैं। कहने का भाव यह है कि महापुरुष उपर्युक्त गुणों से ही सुशोभित होते हैं, ऐश्वर्य से नहीं।

संपत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।।
अपात्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ।।७०।।

अन्वय—महताम् चित्तम् संपत्सु उत्पलकोमलम् भवति, आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् (भवति)।

भावार्थ—महापुरुषाः सम्पत्तिकाले कमलवत्कोमलाः भवन्ति, आपत्तिकाले च तेषां हृदयं शिलावत् कठोरं संजायते। ते आपत्काले धीरत्वं भजन्ते।

अनुवाद—महापुरुषों का चित्त-सम्पत्ति में कमल के समान कोमल रहता है और आपत्ति से गिरि की शिला के समान कठोर हो जाता है।

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामाऽपि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ॥
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायते ॥७१॥

अन्वय—संतप्तायसि संस्थितस्य पयसः नाम अपि न ज्ञायते, तत् एव नलिनीपत्रस्थितम् मुक्ताकारतया राजते तत् स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितम् मौक्तिकम् जायते, प्रायेण देहिनाम् उत्तममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतः जायते (भवन्ति)।

भावार्थ—जनैः सत्संगतिः कार्या, न नीचसंगः, हि तेषु उत्तममध्यमोत्तम-गुणाः संगेनैव आयान्ति यथा जलं लौहपतितं सत् दृश्यतेऽपि न, तदेव कमलपत्रे मुक्तावत् शोभते, स्वाति नक्षत्रे च मेघात्पतितं तदेव मुक्ता भवति।

अनुवाद—तप्त लोहे पर पड़ने से जल का नाम भी नहीं रह जाता, वही जलविन्दु कमलपत्र पर पड़ने से मोती के समान शोभायमान होता है, फिर वही जल की बूंद स्वाति नत्त्त्र में मेघ से समुद्र की सीप में पड़ने से मोती बन जाता है; इससे सिद्ध है कि मनुष्यों के प्रायः अधम, मध्यम और उत्तम गुण संसर्ग से ही होते हैं। अर्थात् संसर्ग वहुत वड़ी वस्तु है।

यः प्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत् कलत्रम् ॥
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यदे-
तत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥७२॥

अन्वय—सः पुत्रः यः सुचरितैः पितरम् प्रीणयेत्, तत्र कलत्रम् यत् भर्तुः एव हितम् इच्छति, तत् मित्रम् यत् आपदि सुखे च समक्रियम् यदेतत्त्रयं जगति पुण्यकृतः एव लभन्ते।

भावार्थ—स्वसच्चरित्रेण पितरं प्रसन्नकर्ता पुत्रः, पत्युः निरन्तरं हित-चिन्तिका पत्नी, सुखदुःखे समानभावयुतं मित्रं एतत्त्रयं पुण्यवान् एव जनः संसारे लभते।

अनुवाद—वही पुत्र है, जो अच्छे चरित्रों से पिता को प्रसन्न रक्खे, वही पत्नी है, जो निरन्तर पति का हित चाहे, वही मित्र है, जो सुख और दुःख

में समान भाव बनाये रक्खे। संसार में पुण्यवान् व्यक्ति को ही ये तीनों प्राप्त होते हैं।

एको देवः केशवो वा शिवो वा ह्येकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा ॥
एको वासः पत्तने वा वने वा ह्येका भार्या सुन्दरी वा दरी वा ॥७३॥

अन्वय—एकः देवः केशवः वा शिवः वा, एकम् मित्रम् भूपतिः वा यतिः वा, एकः वासः पत्तने वा वने वा, एका भार्या सुन्दरी वा दरी वा।

भावार्थ—एकं देवं केशवं वा शिवं वा भजेत्, एकेन-भूपतिना वा यतिना वा-मित्रतां कुर्यात्, एकत्र-नगरे वा कानने वा-वसेत्, एकया च-सुन्दर्या भार्या कंदरया वा-प्रीतिं कुर्यात्। प्रवृतौ वा तिष्ठेत् निवृत्तौ वा मनः कुर्यात्। पूर्वः प्रवृत्तिपन्थाः अपरश्च निवृत्तः।

अनुवाद—एक देवता का भजन करना चाहिए—कृष्ण का या शिव का; एक से मित्रता करनी चाहिए—राजा से अथवा तपस्वी से; एक जगह रहना चाहिए—नगर में अथवा वन में; एक से प्रेम करना चाहिए—सुन्दर स्त्री से अथवा कन्दरा से। अर्थात् मनुष्य को एक मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए—चाहे प्रवृत्तिमार्ग हो या निवृत्ति। प्रथम स्थिति प्रवृत्तिमार्ग की है और दूसरी निवृत्तिमार्ग की।

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्तः
स्वार्थान् सम्पादयन्तो विततपृथुतरारंभयत्ना परार्थे॥
क्षन्त्यैवाऽऽक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्मुखान् दूषयन्तः
सन्तः साश्चर्यचर्याजगति वहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः ॥७४॥

अन्वय—नम्रत्वेन उन्नमन्तः स्वान् गुणान् परगुणकथनैः ख्यापयन्तः, परार्थे विततिपृथुतरारंभयत्नाः स्वार्थान् संपादयन्तः, आक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान् दुर्मुखान् क्षान्त्या एव दूषयन्तः, साश्चर्यचर्याः, वहुमताः सन्तः जगति कस्य अभ्यर्चनीयाः न।

भावार्थ—सत्सु पुरुषेषु आश्चर्यजनकाः गुणाः भवन्ति, ते नम्रतया उच्चा भवन्ति, निजगुणान् अन्यगुणानां कथनेन प्रसिद्धिकुर्वन्ति, निरन्तरं परकार्यं कुर्वन्त एव स्वकार्यं सम्पादयन्ति, अपि च निन्दां कुर्वतः दुर्मुखान् केवलं क्षमया एव दण्डयन्ति। एतादृशाः सन्तः संसारे सर्वैः पूजनीयाः।

अनुवाद—नम्रता से ऊँचे होनेवाले, अपने गुणों को दूसरों के गुणों के कथन से प्रसिद्ध करनेवाले, निरन्तर विस्तारपूर्वक परकार्य करने से अपना कार्य सम्पादन करनेवाले, निन्दा के रूखे अक्षरों से मुखर मुखवाले, दुर्जनों को क्षमा करके ही दूषित करनेवाले, आश्चर्यकारक आचरण करनेवाले अत्यन्त सम्माननीय संत-जन संसार में किसके पूजनीय नहीं हैं ? अर्थात् ऐसे महापुरुष हर प्रकार से पूजनीय होते हैं।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमे नवाम्बुभिभू र्मिविलंबिनो घनाः ॥
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥७५॥

अन्वय—तरवः फलोद्गमेः नम्राः भवन्ति, घनाः नवाम्बुभिः भूमि-विलंबिनो भवन्ति, सत्पुरुषाः, समृद्धिभिः अनुद्धताः भवन्ति, एषः परोपकारिणाम् स्वभावः एव।

भावार्थ—परोपकारिजनानां नम्रत्वम् प्राकृतिकम् भवति। यथा फलभारेण वृक्षाः नताः भवन्ति, नवजलप्राप्त्या मेघाः च भूमौ विलम्बन्ते तथैव सज्जनाः अपि धनप्राप्त्या विनम्राः भवन्ति।

अनुवाद—जैसे वृक्ष फलभार से झुक जाते हैं, बादल नवीन जल भरने से भूमि पर झुक जाते हैं, उसी प्रकार सत्पुरुष भी सम्पत्ति प्राप्तकर विनीत हो जाते हैं। अर्थात् परोपकारी जीवों का यह स्वभाव ही है।

श्रोत्रं श्रुतनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ॥
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥७६॥

अन्वय—करुणापराणां श्रोतम् श्रुतेन एव, कुण्डलेन न, पाणिः तु दानेन, कंकणेन न, कायः तु परोपकारैः चन्दनेन न विभाति।

भावार्थ—कर्णस्य साफल्यं शास्त्रश्रवणेन न तु कुण्डलधारणेन, हस्तस्य च शोभा कंकणधारणेन न भवति अपितु दानेन, तथैव च परोपकार वृत्तिभिः शोभते न तु चन्दनलेपनेन। येषामेते गुणाः ते एव सत्पुरुषाः सन्ति।

अनुवाद—दयालु मनुष्यों का कर्ण शास्त्रों के सुनने मात्र से सुशोभित होता है, कुण्डल पहनने से नहीं; हाथ दान देने से शोभनीय होता है, कंकण पहनने से नहीं और शरीर दूसरे की भलाई करने से शोभित होता है, चन्दन के लेप से नहीं।

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति ।।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ।।७७।।

अन्वय—पापात् निवारयति, हिताय योजयते, गुह्यम् च गूहति, गुणान् प्रकटीकरोति, आपद्गतं च न जहाति, काले ददाति, सन्तः इदं सन्मित्रलक्षणम् प्रवदन्ति ।

भावार्थ—सन्मित्रं तदेव यत् पापकर्मात् दूरीकृत्य हितकार्ये प्रवर्तयति, गुप्तं गोपयति, मित्रस्य गुणान् प्रकटयति, आपत्तौ न त्यजति, समये सहायतां च करोति ।

अनुवाद—मित्र पाप से हटाते हैं, हितकार्य की योजना बनाते हैं, गुप्त बातों को छिपाते हैं, गुणों को प्रकट करते हैं, आपत्तिकाल में साथ नहीं छोड़ते और समय पड़ने पर धनादि देते हैं। सन्त जनों ने अच्छे मित्र के ये लक्षण बताये हैं।

पद्माकरं दिनकरो विकचीकरोति
चन्द्रो विकासयति कैरवचक्रवालम् ।।
नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि जलं ददाति
सन्तः स्वयं परहिताभिहिताभियोगाः ।।७८।।

अन्वय—दिनकरः पद्माकरम् विकचीकरोति, चन्द्रः कैरवचक्रवालम् विकासयति, जलधरः अपि न अभ्यर्थितः जलं ददाति, सन्तः स्वयं परहितेषु कृताभियोगाः भवन्ति ।

भावार्थ—यथा सूर्यः अप्रार्थितः एव कमलकुलं विकासयति, चन्द्रश्च कुमुदानां विकासं करोति, मेघः अपि अयाचितः एव वर्षा करोति तथैव सज्जनः स्वाभावेनैव परहितार्थम् उद्योगं कुर्वन्ति ।

अनुवाद—सूर्य स्वयं ही कमल-समूह को विकसित करता है, चन्द्रमा स्वयं ही कुमुद-दल को खिलाता है, बादल भी बिना माँगे ही जल देते हैं। ऐसे ही सज्जन पुरुष भी स्वयं दूसरे के हित में लगे रहते हैं।

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ॥
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नंति ये
ये निघ्नंति निरर्थकं परहितं ते के न ; जानीमहे ॥७९॥

अन्वय—ये स्वार्थान् परित्यज्य परार्थघटकाः एते सत्पुरुषाः, ये तु स्वार्थाविरोधेन परार्थमुद्यमभृतः ते सामान्याः, ये परहितम् स्वार्थाय निघ्नन्ति ते अमी मानुषराक्षसाः, ये निरर्थकम् परहितम् निघ्नन्ति ते के, न जानीमहे ।

भावार्थ—मनुष्याः चतुर्विधाः । स्वार्थस्य चिन्तां विहाय ये परोपकारे दत्तचित्ताः ते उत्तम जनाः, ये तु निजार्थं परार्थं च साधयन्ति ते मध्यमाः, ये च स्वार्थसिद्ध्यैः परार्थं नाशयन्ति ते मनुष्यरूपेण राक्षसाः, ये च व्यर्थमेव परार्थं नाशयन्ति ते अत्यन्त निकृष्टाः, कविः न तेषां नामकरणे समर्थः ।

अनुवाद—जो स्वार्थ छोड़कर दूसरे का कार्य सिद्ध करते हैं वे सत्पुरुष हैं, जो अपना अर्थ नष्ट न कर, दूसरेका कार्य सिद्ध करते हैं वे सामान्य पुरुष हैं और जो स्वार्थ के लिए दूसरे का कार्य नष्ट करते हैं वे मनुष्यों में राक्षस के समान हैं तथा जो व्यर्थ ही दूसरे के कार्यों को नष्ट किया करते हैं, वे कौन हैं, यह हम भी नहीं जानते ?

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ॥
गन्तुं पावकमुमनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ॥८०॥

अन्वय—पुरा क्षीरेण आत्मगतोदकाय हि अखिलाः गुणाः दत्ताः, तेन पयसा क्षीरे तापम् अवेक्ष्य आत्मा हि कृशानौ हुतः, मित्रापदं तु दृष्ट्वा तत् पावकम् गन्तुम् उन्मनः अभवत्, पुनः तेन जलेन युक्तं शाम्यति, सताम् मैत्री तु ईदृशी ।

भावार्थ—दुग्धे यदा जलं मिश्रितं भवति तदा तत् दुग्धरूपमेव प्राप्नोति, यदा च दुग्धम् अग्नौ संताप्यते तदा प्रथमं दुग्धस्य मित्रं जलमेव दग्धं भवति, जलाभावे दुग्धम् अग्नौ गन्तुं प्रवृत्तं भवति पुनः जलविन्दुभिः प्रोक्षितं दुग्धं शाम्यति । अनेनैव प्रकारेण साधूनां संसारे प्राणों अपि मित्रता न नश्यति ।

अनुवाद—पहले दूध ने स्वयं मिले जलको अपने समस्त रूप और गुण दे दिये, उस जल ने दूध में ताप देखकर अपना शरीर अग्नि में होम कर दिया, मित्र की इस आपत्ति को देखकर दूध भी अग्नि में गिरने को तत्पर हो गया परन्तु फिर जल से मिलकर मित्र को आया जानकर शान्त हो गया। सज्जन पुरुषों की मित्रता ऐसी ही होती है।

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते ॥
इतोऽपि बडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥८१॥

अन्वय—इतः केशवः स्वपिति, तदीयद्विषाम् च कुलम् इतः, इतः च शरणार्थिनां शिखरिणां गणाः शेरते, इतः समस्तसंवर्तकैः सह वड़वानलः अपि, अहह सिन्धोः वपुः विततम्, ऊर्जितम्, भरसहम् च।

भावार्थ—यथा खलु समुद्रे, विष्णुः, तत्छत्रवः दैत्याः शरणागतानां पर्वतानां समूहश्चापि, सर्वप्रलयकारि वह्निभिः सह वड़वानलोऽपि तत्रैव, तथैव समुद्रवत् महात्मानः अपि विस्तृताः अति बलिष्ठा, भारसहाः, सर्वेषामाश्रयभूताः भवन्ति।

अनुवाद—समुद्र में एक ओर विष्णु सोते हैं और एक ओर उनके शत्रु दैत्यों का समूह भी है। एक ओर शरणार्थी पर्वतों के समूह पड़े हैं तो इधर समस्त प्रलयकारिणी अग्नियों के साथ वड़वानल भी है। इससे सिद्ध है कि समुद्र का शरीर बड़ा वृहद्, बलवान और भार सहनेवाला है। कहने का भाव यह है कि सत्पुरुष भी समुद्र के समान दूसरों को आश्रय देनेवाले होते हैं।

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनान् ॥
मान्यान् मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान् गुणान्
कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत् सतां लक्षणम् ॥८२॥

अन्वय—तृष्णाम् छिन्धि, क्षमाम् भज, मदम् जहि, पापे रतिं मा कृथाः, सत्यम् ब्रूहि, साधुपदवीम् अनुयाहि, विद्वज्जनान् सेवस्व, मान्यान् मानय, विद्विषः

अपि अनुनय, स्वान् गुणान् प्रख्यापय, कीर्तिम् पालय, दुःखिते दयाम् कुरु, एतत् सताम् लक्षणम् ।

भावार्थ—तृष्णाछेदनं, क्षमासेवनं, दर्पत्यागः, पापैः दूरे वसनम्, सत्य-भाषणम्, साधुमार्गानुकरणम्, विद्वज्जनसेवा, पूज्यानां पूजनम्, शत्रुभिः सह सद्-व्यवहारः, स्वगुण प्रसिद्धिः, निजयशः पालनम्, दीनेषु दया च एतत् सज्जना-नाम् लक्षणम् अस्ति ।

अनुवाद—तृष्णा का छेदन करो, क्षमा का सेवन करो, मद का त्याग करो, पाप से अनुराग मत करो, सत्य बोलो, साधु जनों के मार्ग का अनुसरण करो, विद्वानों की सेवा करो, मान्य जनों का सम्मान करो, शत्रुओं को भी प्रसन्न रखो, अपने गुणों को प्रसिद्ध करो, यश का पालन करो, दुःखी जनों पर दया करो—यही सज्जनों का लक्षण है ।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।।८३।।

अन्वय—मनसि, वचसि, काये पुण्यपीयूषपूर्णाः, उपकारश्रेणिभिः त्रिभु-वनम् प्रीणयन्तः, परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम् निजहृदि विकसन्तः सन्तः कियन्तः सन्ति ।

भावार्थ—ये खलु मनसा, वचसा, कर्मणा पुण्यमेवाचरन्ति, ये च त्रिलोकस्य उपकारं कुर्वन्ति, ये च अन्यस्य परमाणुवदल्पगुणं गिरिवत् महान् मन्यन्ते, ईदृ-शानां साधूनां दर्शनं जगति दुर्लभम् भवति ।

अनुवाद—मन, बचन और शरीर में पुण्यरूपी अमृत भरे हुए, असंख्य उपकारों से तीनों लोकों को तृप्त करनेवाले, दूसरे के परमाणु के समान अल्प गुणों को पर्वत-सा बढ़ाकर हृदय में प्रसन्न होनेवाले सज्जन कितने हैं ? अर्थात् बहुत कम हैं ।

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ।।

मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोलनिंबकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥८४॥

अन्वय—यत्र च आश्रिताः तरवः ते एव तरवः, तेन हेमगिरिणा, रजताद्रिणा वा किम्, मलयम् एव मन्यामहे यदाश्रयेण कंकोलनिंबकुटजाः अपि चन्दनाः स्युः ।

भावार्थ—स्वर्णगिरौ सुमेरौ, रजतगिरौ कैलासे स्थितेषु वृक्षेषु परिवर्तनं न भवति, न ते स्वर्णमयाः, रजतमयाः वा भवन्ति अतः तयोः स्थितिः तद्धनिक-समाना यः न प्रतिवासिभ्यः लाभप्रदः । केवल मलयाचल एव श्रेष्ठः यः स्वस्थितान् निम्ववृक्षान् अपि चन्दनवत् करोति । मलयाचलवत् सन्तः अपि स्वगुणान् परेषु स्थापयन्ति ।

अनुवाद—जहाँ पर आश्रित वृक्ष जैसे के-तैसे बने रहें, उन स्वर्ण के सुमेरु-पर्वत अथवा रजत के कैलाश पर्वत से क्या लाभ ? केवल मलयाचल को ही हम श्रेष्ठ मानते हैं, जिसके आश्रित रहनेवाले कंकोल, नीम और कुटज जैसे वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं ।

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ॥
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥८५॥

अन्वय—देवाः महार्हैः रत्नैः नतुतुषः, भीमविषेण भीतिम् न भेजिरे । सुधाम् विना विरामं न प्रययुः, धीराः निश्चितार्थात् न विरमन्ति ।

भावार्थ—धीरपुरुषाः निश्चितार्थस्य प्राप्ति विना न विरामं कुर्वन्ति यथा अमृत प्राप्त्यै समुद्रमथनं कुर्वन्तः देवाः बहुमूल्यानि रत्नानि संप्राप्य । संतुष्टाः नाभवन् न च विषप्राप्त्या भीताः । ते अमृतं विना विरामं न प्राप्ताः ।

अनुवाद—समुद्र-मंथन के समय देवताओं को बहुमूल्य रत्नों से सन्तोष नहीं हुआ और वे भयंकर विष से डरे भी नहीं; अमृत-प्राप्ति के विना उन्होंने विश्राम न किया । इससे सिद्ध है कि धैर्यवान् पुरुष निश्चित अभिलषित वस्तु को प्राप्त किये विना विराम नहीं करते, कार्य को अधूरे रूप में नहीं छोड़ते ।

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनम्
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ।

क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥८६॥

अन्वय— क्वचित् भूमौ शय्या, क्वचित् अपि च पर्यंकशयनम्, क्वचित् शाकाहारः, क्वचित् अपि च शाल्योदनरुचिः, क्वचित् कन्थाधारी, क्वचित् अपि च दिव्याम्बरधरः, मनस्वी कार्यार्थी दुःखम्, सुखम् च न गणयति ।

भावार्थ—धीरः विद्वान् कार्यार्थी पुरुषः येन केनापि प्रकारेण सुख-दुःखे समे कृत्वा स्वकार्यं साधयति । सः भूमिशयनं, शाकाहारं, कंथां वा यत्किंचिल्लभते तत् न चिंतयति तथा पर्यंकशयनं, श्रेष्ठभोजनं वस्त्रविशेषं च न बहु मन्यते । मनस्वी कार्येच्छुः पुरुषः सुखदुःखे समानभावं कृत्वा निवसति ।

अनुवाद—कभी भूमि पर शय्या होती है, कभी पलंग पर शयन करते हैं! कभी शाकाहार मिलता है तो कभी श्रेष्ठ चावल आदि का भोजन करते हैं। कभी गूदड़ी ओढ़कर दिन व्यतीत करते हैं तो कभी दिव्य वस्त्र धारण करते हैं। धैर्यवान्, विद्वान्, कार्यार्थी पुरुष दुःख और सुख की चिन्ता नहीं करते ।

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयी वित्तस्य पात्रे व्ययः ॥
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥८७॥

अन्वय—ऐश्वर्यस्य सुजनता, शौर्यस्य वाक्संयमः, ज्ञानस्य उपशमः, श्रुतस्य विनयः, वित्तस्य पात्रे व्ययः, तपसः अक्रोधः, प्रभवितुः क्षमा, धर्मस्य निर्व्याजता भूषणम् (अस्ति) सर्वेषाम् अपि सर्वकारणम् इदम् शीलम् परम् भूषणम् (अस्ति) ।

भावार्थ—ऐश्वर्यं सज्जनतया, वीरता वाङ्नियमेन, ज्ञानम् शान्त्या, शास्त्राध्ययनं विनयेन, धनं सुपात्राय दानेन, तपस्या क्रोधराहित्येन, प्रभुत्वं क्षमया, धर्मश्च निश्छलतया शोभते, परन्तु सौजन्यादिविभूषणापेक्षया समस्तगुणानां कारणं शीलं श्रेष्ठ भूषणमस्ति ।

अनुवाद—ऐश्वर्य का सज्जनता, वीरता का वाक्-संयम, ज्ञान का शान्ति, शास्त्राध्ययन का विनय, धन का सुपात्र को दान, तपस्या का क्रोधरहित होना,

प्रभुत्व का क्षमा और धर्म का भूषण निश्छलता है। परन्तु समस्त मनुष्यों के समस्त गुणों का कारण शील सबसे बड़ा भूषण है।

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा ॥८८॥

अन्वय—नीतिनिपुणाः निन्दन्तु यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु तथेष्टम् वा गच्छतु, मरणम् अद्य एव अस्तु युगान्तरे वा (अस्तु), धीराः न्याय्यात् पथः पदं न प्रविचलन्ति।

भावार्थ—नीतिवन्तः जनाः धीरपुरुषाणां निन्दा कुर्वन्तु प्रशंसा वा, ते धनवन्तः स्युः निर्धनाः वा, तेषां मृत्युः तत्कालमेव स्यात् अथवा ते बहुकाल पर्यन्तं जीवेयुः परन्तु ते कदापि न्यायमार्गं न त्यजन्ति।

अनुवाद—नीतिज्ञ जन निन्दा करें अथवा प्रशंसा करें, लक्ष्मी आये अथवा अच्छानुसार चली जाये; मृत्यु आज ही हो जाय अथवा युगोपरान्त, परन्तु धैर्यवान् पुरुष न्याय के मार्ग से एक पैर भी नहीं हटाते। अर्थात् कितनी भी कठिनाइयाँ आयें, धैर्यशाली मनुष्य न्यायसम्मत मार्ग पर ही चलते हैं।

भग्नाशस्य करणपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाऽऽखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ॥८९॥

अन्वय—भग्नाशस्य, करण्डपीडिततनोः क्षुधा म्लानेन्द्रियस्य भोगिनः मुखे आखुः विवरं कृत्वा स्वयम् नक्तं निपतितः, तत् पिशितेन, तृप्तः असौ सत्वरम् तेन एव पथा यातः हि लोकाः पश्यत, नृणाम्, वृद्धौ, क्षये दैवम् एव कारणम्।

भावार्थ—एकः क्षुत्पीडितः जीवनेन निराशः सर्पं करण्डमध्ये निक्षिप्तः आसीत, एतादृशस्य निराशस्य मुखे कश्चित् मूषकः करण्डे स्वयं छिद्रं विधाय रात्रौ पतितः, सः सर्पः तस्य मांसेन निजोदरपूर्ति कृत्वा मूषककृत छिद्रमार्गेणैव बहिर्गतः। अनेन सिद्धं भवति यत् लोकानाम् उन्नत्यवनत्योः भाग्यमेव कारणम्।

अनुवाद—जीवन से निराश, पिंजरे में बन्द होने से पीड़ित शरीरवाले, भूख से शिथिल इन्द्रियोंवाले सर्प के मुख में चूहा छेद करके स्वयं रात को गिर गया, उसके मांस से तृप्त होकर वह सर्प उसी छिद्र के मार्ग से बाहर निकल गया। इससे हे मनुष्यो, देखो मनुष्यों की उन्नति और अवनति में भाग्य ही एक मात्र कारण है।

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।
प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः॥९०॥

अन्वय—कराघातैः पातितः अपि कन्दुकः उत्पतति, एव प्रायेण साधुवृत्तानाम् विपत्तयः अस्थायिन्यः भवन्ति।

भावार्थ—यथा हस्तताडनैः पातितः कन्दुकः पुनः पुनः ऊर्ध्वं गच्छति तथैव सज्जनानामापत्तयः स्थिराः न भवन्ति।

अनुवाद—हाथ से पटकने पर भी गिरी हुई गेंद ऊपर ही उछलती है, इससे सिद्ध है कि बहुधा सज्जनों की विपत्तियाँ स्थिर नहीं होती हैं।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति॥९१॥

अन्वय—आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थः महान् रिपुः (अस्ति)। उद्यमसमः बन्धुः न अस्ति यं कुर्वाणो न अवसीदति।

भावार्थ—मनुष्यः आलस्यं त्यजेत् इदं हि शरीरस्थितः महान् शत्रुः। बंधुः न, उद्योगेन हि जनः सदा सुखं प्राप्नोति।

अनुवाद—आलस्य मनुष्यों के शरीर में रहनेवाला महान् शत्रु है। उद्योग के समान कोई बन्धु नहीं हैं, जिसके करने से कभी दुःख प्राप्त नहीं होता है।

छिन्नोऽपि रोहति तरुः क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः।
इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यंते न ते विपदा॥९२॥

अन्वय—छिन्नः अपि तरुः रोहति, क्षीणः अपि चन्द्रः पुनः उपचीयते, इति विमृशन्तः विपदा सन्तः न संतप्यन्ते।

भावार्थ—वृक्षः बारम्बारं निकृत्तोऽपि वृद्धिं प्राप्नोति, कलाक्षीणोऽपि चन्द्रः पुनः पुनः पूर्णः भवति, अतः आपत्तयः सदा स्थायिन्यः न, इति विचार्य सज्जनाः न दुःखी भवन्ति।

अनुवाद—कटा हुआ वृक्ष फिर बढ़ जाता है, घटा हुआ चन्द्रमा पुनः वृद्धि को प्राप्त होता है, यह सोचकर संसार में आपत्तिग्रस्त सज्जन दुःख नहीं करते हैं।

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गा दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः॥
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे
तद्युक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम्॥९३॥

अन्वय—यस्य नेता बृहस्पतिः, प्रहरणम् वज्रम्, सैनिकाः सुराः, दुर्गम् स्वर्गः, हरेः अनुग्रहः किल वारणः ऐरावतः इति, ऐश्वर्यबलान्वितः अपि वलभित् परैः संगरे भग्नः तत् वरं दैवमेवशरणं युक्तम् पौरुषम् वृथा, धिक् धिक्।

भावार्थ—बृहस्पतिना गुरुणा कृतसहायः इन्द्रः वज्रं शस्त्ररूपेण गृहीत्वा देवांश्च सैनिकान् कृत्वा, स्वर्ग दुर्गे वासं कुर्वन्, विष्णोश्च कृपां संप्राप्य ऐरावते हस्तिनि चारुह्यापि शत्रुभिः संग्रामे पराजितः। अनेन प्रकारेण संपत्त्या बलेन च युक्तः इन्द्रः अपि पराजितः, अतः सिद्धम् भवति यत् दैवे प्रतिकूले सति पुरुषस्य प्रयत्नः विफलः।

अनुवाद—जिसके बृहस्पति मंत्री, शस्त्र वज्र, सैनिक देवता, दुर्ग स्वर्ग, विष्णु भगवान् की कृपा और वाहन ऐरावत हाथी है—ऐसे धनयुक्त तथा बल से युक्त इन्द्र को भी युद्ध में शत्रुओं ने पराजित किया। इससे सिद्ध होता है कि दैव की ही शरण में जाना उचित है। दैव के विरुद्ध होने पर पुरुषार्थ व्यर्थ है अतः उसको धिक्कार है।

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी॥
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता॥९४॥

अन्वय—पुंसाम् फलं कर्मायत्तम्, बुद्धिः कर्मानुसारिणी, तथापि सुधिया, सुविचार्यैव कुर्वता भाव्यम्।

भावार्थ—जनाः स्वकर्मानुसारं फलं प्राप्नुवन्ति तेषां मतिश्च कर्मानुसारमेव निर्मला, मलिना वा जायते तथापि विदुषा पुरुषेण सुविचार पूर्वकमेव कार्यं कार्यम्।

अनुवाद—यद्यपि पुरुषों को कर्मानुसार ही फल प्राप्त होता है और बुद्धि भी कर्म के अनुसार ही हो जाती है तथापि विद्वान् मनुष्यों को काम सोच-विचार कर ही करना चाहिए।

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके
वाञ्छन् देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ॥
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥९५॥

अन्वय—दिवसेश्वरस्य किरणैः मस्तके सन्तापितः खल्वाटः अनातपम् देशम् वांछन्, विधिवशात् तालस्य मूलं गतः। तत्र अपि पतता महाफलेन अस्य शिरः सशब्दम् भग्नम् प्रायः यत्र भाग्यरहितः गच्छति तत्र एव आपदः यान्ति।

भावार्थ—सूर्यकिरणैः संतापितः एकः खल्वाटः छायां वांछन् तालवृक्षस्य अधः गतः। तत्र तस्य पतता महाफलेन खल्वाटस्य मस्तकम् भग्नम्। अनेन सिद्धं भवति यत् कुत्रापि गतः भाग्यहीनः जनः दुःखमेव प्राप्नोति।

अनुवाद—सूर्य की किरणों से मस्तक संतप्त होने पर खल्वाट (गंजा) बिना धूप के स्थान में जाने की इच्छा करता हुआ भाग्यवश ताल वृक्ष के नीचे चला गया, वहाँ भी गिरते बड़े फल से उसका सिर जोर से फूट गया। इससे सिद्ध होता है कि भाग्यहीन जहाँ जाते हैं वहाँ आपत्तियाँ ही आती हैं।

गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनं शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥९६॥

अन्वय—गजभुजङ्गमयोः अपि बन्धनम्, शशिदिवाकरयोः ग्रहपीडनम्; मतिमताम् च दरिद्रताम् विलोक्य, अहो, विधिः बलवान् इति मे मतिः (अस्ति)।

भावार्थ—संसारे लुब्धकैः गजाः सर्पाश्च बंधने नीयन्ते, सूर्यचन्द्रौ राहुणा पीडितौ भवतः, अनेके बुद्धिमन्तः जनाः दरिद्रावस्थायां स्वजीवनयापनं कुर्वन्ति, अनेन सिद्ध्यते यत् दैवः महाबलवान् भवति।

अनुवाद—हाथी और सर्प का बंधन में पड़ना, चन्द्रमा और सूर्य का राहु द्वारा पीड़ित होना तथा बुद्धिमानों की दरिद्रावस्था को देखकर हमारा मत है कि भाग्य बड़ा प्रबल होता है।

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभंगि करोति चेदहह कष्टमपंडितता विधेः ॥९७॥

अन्वय—तावत् अशेषगुणाकरम्, भुवः अलंकरणम्, पुरुषरत्नम् सृजति, तदपि तत्क्षणभंगि करोति, अहह कष्टम्, (इयम्) विधेः अपण्डितता (अस्ति) ।

भावार्थ—इदं कष्टकरं विधेः मूर्खता च यत्प्रथमम् अखिलगुणवन्तं पृथिव्याः भूषणं पुरुषं निर्मापयति तं च क्षणनाशशीलं करोति ।

अनुवाद—पहले विधाता समस्त गुणों के आकार, पृथ्वी के आभूषणस्वरूप पुरुषरत्न को उत्पन्न करता है परन्तु उसका शरीर क्षणभंगुर कर देता है, यह बड़े कष्ट की बात है । यह ब्रह्मा का अज्ञान ही है ।

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम्
नोऽलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ॥
धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्
यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥९८॥

अन्वय—यदा करीरविटपे पत्रम् न एव (तदा) किम् वसन्तस्य दोषः, यदि दिवा उलूकः अपि न अवलोकते (तर्हि) किं सूर्यस्य दूषणम्, यत् विधिनापूर्वं ललाटलिखितम् तत् मार्जितुम् कः क्षमः ।

भावार्थ—करीलवृक्षस्य पत्राभावे न वसन्तर्तोः दोषः, दिने उलूकस्यानवलोकने न सूर्यः दोषी । एवमेव मेघोऽपि चातकमुखे धाराया अपतने दोषी न । विधिलिखितं संसारे न कोऽपि मार्जितुं प्रभवति ।

अनुवाद—यदि करील के वृक्ष में पत्ते नहीं हैं तो इसमें वसन्त ऋतु का क्या दोष ? उल्लू दिन में नहीं देख पाता तो सूर्य का क्या दोष ? जल की धारा चातक के मुख में नहीं गिरती हैं तो इसमें बादल का क्या दोष है ? विधाता नें पहले ही जिसके ललाट में जो लिख दिया हैं उसे मिटाने में कोई समर्थ नहीं है ।

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किंच विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥९९॥

अन्वय—देवान् न नमस्यामः, ते तु अपि हतविधेः वशगा, विधिः वन्द्यः सः अपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः, फलम् कर्मायत्तम्, अमरगणैः किम्, विधिना च किम्, तत्कर्मभ्यः नमः येभ्यः विधिः अपि न प्रभवति ।

भावार्थ—विधिः देवाश्च न नमस्कारार्हाः यतः देवाः विध्यधीनाः विधिश्च पूर्वकर्मानुसारं फलं ददाति । अतः सिद्धं यत् फलं कर्मानुसारं प्राप्यते, तेन कर्मणे एव नमः यस्य सम्मुखं विधातापि न किंचित्कर्तुं प्रभवति ।

अनुवाद—देवताओं को हम नमस्कार नहीं करते हैं, वे तो उस निष्ठुर विधाता के वश में हैं, विधाता नमस्कार के योग्य है, पर वह भी पूर्व निश्चित कर्मों के अनुसार ही फल देता है । फल कर्म के अधीन है । फिर देवताओं से और विधाता से क्या तात्पर्य ? उन कर्मों को ही नमस्कार है, जिनके सम्मुख विधाता की भी कुछ नहीं चलती ।

> शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला
> लक्ष्मीरित्यनुभूयते चिरमनुस्यूते शुभे कर्मणि ।
> विच्छिन्ने नितरामनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकं
> मुक्ताजालमिव प्रयाति झटिति भ्रश्यद्दिशो दृश्यताम् ॥१००॥

अन्वय—शुभे कर्मणि चिरम् अनुस्यूते शुभ्रं सद्म, सविभ्रमाः युवतयः, श्वेतातपत्रोज्ज्वला लक्ष्मीः इति अनुभूयते, विच्छिन्ने नितराम् अनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकं मुक्ताजालम् इव भ्रश्यत् (सद्मादिकं) झटिति दिशः प्रयाति इति दृश्यताम् ॥

व्याख्या—शुभे कर्मणि—सुकृते, चिरं—बहुकालम्, अनुस्यूते—संलग्ने अनुकूले इति यावत्; शुभ्रं—धवलं, सद्म—प्रासादः, सविभ्रमाः—सविलासाः, युवतयः—तरुण्यः, श्वेतातपत्रोज्ज्वला—श्वेतातपत्रेण शुभ्रच्छत्रेण उज्ज्वला देदीप्यमाना, लक्ष्मीः—श्रीः इति (सर्वम्) अनुभूयते—अनुभुज्यते, विच्छिन्ने—नष्टे (सुकृते तु) नितरां—सुतराम, अनङ्गकलहक्रीडात्रुटत्तन्तुकम्—अनङ्ग-कलहः रतिसंग्रामः एव क्रीडा केलिः तस्यां त्रुटन् विगलन् तन्तुः यस्य तादृशं, मुक्ताजालं—मौक्तिकस्रक, इव—तद्वन्, भ्रश्यत् नश्यत्, (सद्मादिकं) झटिति—आशु, दिशः—आशाः, प्रयाति—गच्छति अन्तर्हित भवतीत्यर्थः, इति, दृश्यताम्—अवलोक्यताम् ।

भावार्थ—मनुष्यस्य यावत्कालपर्यन्त शुभकर्मोदयस्तिष्ठति तावत् स स्रक्च-न्दनवनितादिभोग्यपदार्थान् प्राप्नोति, किन्तु नष्टे शुभकर्मणि तस्य भोग्यपदार्था अपि विलीयन्ते ॥

अनुवाद—शुभ कर्म के चिर काल तक बने रहने पर धवल प्रासाद, हाव-भाव से युक्त युवतियाँ, श्वेत छत्र से चमकती हुई राज लक्ष्मी—इन सबका भोग मिलता रहता है; किन्तु कर्म के नष्ट हो जाने पर बड़ी आसानी से ये सब चीजें रति-क्रीड़ा में टूटे हुए धागे वाली मोती की माला के समान बिखरती हुई तुरन्त दिशाओं में इधर-उधर चली जाती हैं, यह देखिए ।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे ॥
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥ १०१ ॥

अन्वय—येन ब्रह्माण्डभाण्डोदरे, ब्रह्मा कुललावत् नियमितः, येन विष्णुः दशावतारगहने महासंकटे क्षिप्तः, येन रुद्रः कपालपाणिपुटके भिक्षाटनम् कारितः, (तथा) सूर्यः नित्यम् एव गगने भ्राम्यति तस्मै कर्मणे नमः ।

भावार्थ—कर्म एव नमस्कारार्हं यत् ब्रह्माणं, विष्णुं, शिवं, सूर्यमपि दुःखीकरोति । तेनैव प्रेरितः ब्रह्मा कुम्भकारवत् जगद्घटं निर्मापयति, विष्णुः बारम्बारमवतारग्रहणरूपकष्टं प्राप्नोति, शिवः कपाले भिक्षाटनं करोति, सूर्यश्च नित्यमाकाशे भ्रमति ।

अनुवाद—जिसने संसार-रूपी पात्र की रचना के लिए ब्रह्मा को कुम्हार की भाँति बनाया, जिसने विष्णु को दश अवतार ग्रहण करने के संकट में डाला और जिसने शिव को कपाल हाथ में लेकर भिक्षा माँगने के कष्ट में रख दिया और सूर्य को आकाश में नित्यभ्रमण करने के चक्र में डाला, उस कर्म को नमस्कार है ।

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ॥
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥ १०२ ॥

अन्वय—आकृतिः न एव, कुलम् न एव, शीलम् न एव, विद्या अपि न एव, यत्नकृता सेवा अपि न एव फलति, पुरुषस्य खलु पूर्वतपसा संचितानि भाग्यानि काले फलन्ति यथा एव वृक्षाः (फलन्ति)।

भावार्थ—पुरुषस्य स्वरूपं, वंशम्, शीलं, विद्या, प्रयत्नपूर्वकं कृता सेवा च फलं न ददाति, अपि तु तस्य पूर्वकृततपस्यया संचितम् भाग्यमेव समयं संप्राप्य वृक्षवत् फलं ददाति । भाग्य एव बलवान् न स्वरूपादीनि ।

अनुवाद—न सुन्दर रूप, न वंश; न शील, न विद्या और न प्रयत्नपूर्वक की हुई सेवा ही फल देती है, किन्तु पुरुष की पूर्वतपस्या से संचित भाग्य ही समय पर वृक्षों की भाँति फल देते हैं।

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ॥
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि ॥१०३॥

अन्वय—पुरा कृतानि पुण्यानि वने, रणे, शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे, पर्वतमस्तके वा सुप्तम्, प्रमत्तम्, विषमस्थितम् वा रक्षन्ति ।

भावार्थ—वने, युद्धे, रिपोः जलस्य अग्नेः वा मध्ये स्थितस्य, महासमुद्रे पतितस्य, पर्वतशिखरे वा सुप्तस्य, असावधानस्य, कठिनावस्थायां पतितस्य पुरुषस्य पूर्वजन्मनि कृतानि पुण्यानि एव रक्षां कुर्वन्ति ।

अनुवाद—जंगल में, युद्ध में; जल और अग्नि के मध्य में, महासमुद्र में, पर्वत के शिखर पर सोते हुए, असावधान और विषम अवस्था में स्थित पुरुष की रक्षा पूर्वजन्म के संस्कार ही करते हैं।

या साधूंश्च खलान् करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिणः
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात् ।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो व्यसनैर्गुणेषु विफलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः ॥१०४॥

अन्वय—या खलान् साधून्, मूर्खान् विदुषः, द्वेषिणः च हितान् करोति, परोक्षम् प्रत्यक्षम्, तत्क्षणात् हालाहलम् अमृतं कुरुते, हे साधो, वांछितम् फलम् भोक्तुम् ताम् भगवतीम् सत्क्रियाम्, आराधय, व्यसनैः विफलेषु गुणेषु वृथा आस्थां मा कृथाः ।

भावार्थ—जनैः सदा सत्कर्माणि कार्याणि, न सत्कर्मरहितेषु गुणेषु प्रयत्नः कर्त्तव्यः। सत्कर्मणा हि दुष्टः साधुः, मूर्खः विद्वान्, शत्रुः मित्रम्, गुप्तं प्रकटं, विषं च अमृतं जायते।

अनुवाद—जो दुष्टों को सज्जन, मूर्खों को विद्वान्, शत्रुओं को मित्र, गुप्त को प्रकट और विष को तत्क्षण अमृत कर देती है, हे साधो! इच्छित फल को भोगने के लिए उस भगवती सत्क्रिया की आराधना करो अर्थात् अच्छे कर्म करो। कष्ट और दृढ़पूर्वक व्यर्थ गुणों के साधन में श्रम मत करो।

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पंडितेन॥
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तो-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥१०५॥

अन्वय—पंडितेन गुणवत्, अगुणवत् वा कार्यं कुर्वता, यत्नतः आदौ परिणतिः अवधार्या, अतिरभस कृतानाम् कर्मणाम् विपाकः आविपत्तेः हृदयदाही शल्यतुल्यः भवति।

भावार्थ—पूर्वमविचार्य यत्कार्यं क्रियते तत्प्रायः हृदयलग्नकण्टकवत् बहुकालपर्यन्तं दुःखं ददाति अतः बुद्धिमता जनेन पूर्वं विचार्य कार्यं कर्त्तव्यम्।

अनुवाद—विद्वान को अच्छा अथवा बुरा कोई कार्य करते समय प्रयत्न से पहिले उसका परिणाम विचार लेना चाहिए। शीघ्रतापूर्वक किये गये कामों का फल हृदय को मरणपर्यन्त काँटे के समान दुःख देता रहता है।

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति तिलकणांश्चन्दनैरिंधनाद्यैः
सौवर्णैर्लङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः॥
छित्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणां समन्तात्
प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः॥१०६॥

अन्वय—यः मन्दभाग्यः मनुजः इमाम् कर्मभूमिम् प्राप्य तपः न चरति, (सः) वैदूर्यमय्याम् स्थाल्याम्, इन्धनाद्यैः चन्दनैः, तिलकणां पचति, वसुधामर्कमूलस्य हेतोः सौवर्णैर्लङ्गलाग्रैर्विलिखति, कर्पूरखण्डान् छित्वा कोद्रवाणां समन्तात् इह वृत्तिम् कुरुते।

भावार्थ—यथाहि खलु मरकतमणिनिर्मितस्थाल्यां चन्दनवृक्षाणाम् इन्धनेन तिलकणां पाचनमनुचितम्, यथा अर्कवृक्षमारोपयितुम् सुवर्णहलेन पृथिव्याः विलिखनमसमीचीनम्, यथा च कोद्रवाणां रक्षायै कर्पूरवृक्षान् छित्वा तेषाम् आवरणमसांप्रतम् तथैव इमां संसारस्वरूपां कर्मभूमि प्राप्य अतपश्चरणम् अनुचित्तम् । अस्यांपृथिव्यां जन्म प्राप्य पुरुषेण तपः अवश्यमाचरणीयम् ।

अनुवाद—जो मन्दभाग्य पुरुष इस संसाररूपी कर्मभूमि को प्राप्त करके तप नहीं करता है, वह मरकतमणि की थाली में चन्दन के इंधन से लहसुन को पकाता है, आक के वृक्ष की जड़ को लगाने के लिए सोने के हल से धरती को जोतता है तथा कपूर के वृक्ष का काटकर कोदो के चारों ओर घेरा लगाता है अर्थात् नितांत अनुचित आचरण करता है ।

मज्जत्वंभसि यातु मेरुशिखरं शत्रुञ्जयत्वाहवे
वाणिज्यं कृषिसेवनादि सकला विद्याः कलाः शिक्षताम् ॥
आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत् कृत्वा प्रयत्नं महा-
न्नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥१०७॥

अन्वय—अंभसि मज्जतु, मेरुशिखरम् यातु, आहवे शत्रून् जयतु, वाणिज्यं कृषिसेवनादिसकलाः विद्याः कलाः शिक्षताम् परम् प्रयत्नम् कृत्वा खगवत् विपुलम् आकाशम् प्रयातु, इह कर्मवशतः अभाव्यम् न भवति, भाव्यस्य (च) नाशः कुतः ।

भावार्थ—जनः जले प्रविशतु सुमेरुगिरौ वा गच्छेत्, युद्धे रिपून् जयतु उत व्यापार-कृषि सेवादि विद्या कलाश्च शिक्षतां अथवा प्रयत्नं कृत्वा पक्षिवद् अस्मिन् वृहति आकाशे उड्डीयेत किन्तु यन्न भाव्यं तन्न भविष्यति, यद्भाव्यं तदवश्यं भविष्यति ।

अनुवाद—चाहे जल में प्रविष्ट हो जाओ, चाहे सुमेरु पर्वत के शिखर पर जाओ, युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो, चाहे व्यापार, कृषि, सेवा आदि समस्त विद्याओं और कलाओं को सीखो और चाहे प्रयास करके पक्षी के समान आकाश में उड़ो, परन्तु यहाँ कर्मवश जो अनहोनी है वह नहीं होगी तथा जो होनी है उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता । अर्थात् इस संसार में सब कर्म के

अधीन हैं, प्रयत्न करके भो अनहोनी को नहीं किया जा सकता और होनी को दूरस्थ नहीं किया जा सकता।

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वे जनाः सुजनतामुपयांति तस्य॥
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य॥१०८॥

अन्वय—यस्य नरस्य विपुलपूर्वसुकृतम् अस्ति तस्य भीमं वनं प्रधानं पुरं भवति, तस्य सर्वे जनाः सुजनताम् उपयाति, कृत्स्ना च भूः सन्निधिरत्नपूर्णा भवति।

भावार्थ—मनुष्यस्य पूर्वजन्मसंचितकर्मवशात् सर्वं दुःखकरमपि सुखकरम् संजायते, तस्य भयंकरं वनं श्रेष्ठनगरवत् भवति, सर्वे जनाः तस्य मित्राणि भवन्ति, समस्ता पृथ्वी च रत्नसूः परिजायते।

अनुवाद—जिस मनुष्य का बहुत-सा पूर्वजन्म का पुण्य है, उसके लिए भयंकर वन श्रेष्ठ नगर हो जाता है, सभी मनुष्य उसके लिए सज्जन हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण पृथ्वी उसके लिए रत्नों से पूर्ण हो जाती है।

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः संगतिः
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः॥
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा कानुव्रता किं धनं
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम्॥१०९॥

अन्वय—लाभः कः गुणिसंगमः, असुखम् किम्, प्राज्ञेतरैः संगतिः, हानिः का, समयच्युतिः, निपुणता का, धर्मतत्त्वे रतिः, शूरः कः विजितेन्द्रियः, प्रियतमा का, अनुव्रता, धनं किम्, विद्या, सुखं किम्, अप्रवासगमनम्, राज्यं किम्, आज्ञाफलम्।

भावार्थ—संसारे वास्तविको लाभः गुणिनां संगतिः, वास्तविकं दुःखं मूर्ख-संगः, काले कार्याकरणम् हानिः, धर्मे प्रीतिः चतुरता, इन्द्रियाणां वशीकरणे वीरता, पातिव्रत्यमेव सुपत्नीत्वम्, विद्यैव धनम्, परदेशे न गमनमेव सुखम्, राज्यं ल स्वाज्ञापालनमस्ति।

अनुवाद—लाभ क्या है ? विद्वानों की संगति । दुःख क्या है ? मूर्खों का संग । हानि क्या है ? समय पर चूकना । निपुणता क्या है ? धर्मतत्त्वों में प्रेम । वीर कौन है ? जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है । प्रिय स्त्री कौन ? जो पतिव्रता है । धन क्या है ? विद्या । सुख क्या है ? परदेश में न जाना । राज्य क्या है ? अपनी आज्ञाओं का पालन हो जाना ।

मालती कुसुमस्येव द्वे गतोह मनस्विनः ।
मूर्ध्नि सर्वस्यलोकस्य शीर्यते वन एव वा ॥११०॥

अन्वय—इह मालतीकुसुमस्य इव मनस्विनः द्वे गती, सर्वस्यलोकस्य मूर्ध्नि (स्थीयते), पने एव वा शीर्यते ।

भावार्थ—यथा मालतीकुसुमं जनानां शिरसि गत्वा सम्मानितं भवति अथवा कानने एव शीर्णं तथैव मनस्वी पुरुषः लोकेषु सम्मानं प्राप्य तिष्ठति अथवा एकान्ते निवसति ।

अनुवाद—संसार में मालती के पुष्प की भाँति मनस्वी पुरुषों की दो ही गतियाँ हैं, या तो वे सबके मस्तक पर चढ़ें या वन में ही सूख जायं ।

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मन्डिता वसुधा ॥१११॥

अन्वय—अप्रियवचनदरिद्रैः, प्रियवचनाढ्यैः, स्वदारपरितुष्टैः, परपरिवादनिवृत्तैः, वसुधा क्वचित्, क्वचित् मंडिता ।

भावार्थ—ते एव सृजनाः, ये अप्रियं न भाषन्ते, सदा प्रियमेव वदन्ति, स्वपलया एव सन्तुष्टाः वसन्ति, परनिन्दां न कुर्वन्ति ईदृशाः पुरुषाः संसारे कठिनतया दृश्यन्ते ।

अनुवाद—अप्रिय वचन न बोलनेवाले प्रिय वचनों से सम्पन्न, अपनी ही पत्नी से सन्तुष्ट, दूसरों की निन्दा से रहित अर्थात् दूसरों की निन्दा न करनेवाले पुरुषों से पृथ्वी कहीं-कहीं शोभायमान है, अर्थात् ऐसे पुरुष पृथ्वी पर कम ही मिलते हैं ।

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमाष्टुंम् ॥
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥११२॥

अन्वय—कदर्थितस्य अपि धैर्यवृत्तेः धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् न शक्यते, हि अधोमुखस्य अपि कृतस्य वह्नेः शिखा अधः कदाचित् एव याति।

भावार्थ—यथा नीचैः कृतमुखस्य अग्नेः ज्वाला उच्चैः उपरि एव गच्छति तथैव कष्टक्लेशितः अपि धीरः धैर्यवृत्तिं न त्यजति।

अनुवाद—कष्ट को प्राप्त होने पर भी धैर्यशाली पुरुष की धैर्य वृत्ति को कोई नष्ट नहीं कर सकता, मुख की हुई अग्नि की लपट नीचे को कभी नहीं जाती। अग्नि की ज्वाला सदैव ऊपर उठती है।

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः॥
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं सः धीरः॥११३॥

अन्वय—यस्य कान्ताकटाक्षविशिखाः न लुनन्ति, (यस्य) चित्तम् कोपकृशानुतापः न निर्दहति, (यम्) च भूरिविषयाः लोभपाशैः न कर्षयन्ति, सः धीरः इदम् कृत्स्नम् लोकत्रयम् जयति।

भावार्थ—यस्य पुरुषस्य हृदयं नारीणां कटाक्षवाणैः न व्याकुली भवति यश्च क्रोधरूपिणः वह्नेः तापेन न पीडितः भवति (क्रोधं न करोति), यश्च इन्द्रियविषयेषु लोभे च नाकृष्टः, स मनस्वी जनः त्रिभुवनविजयी।

अनुवाद—जिस पुरुष के चित्त को स्त्रियों के कटाक्षरूपी वाण नहीं वेधते, जिसके हृदय को क्रोधरूपी अग्नि का संताप नहीं जलाता और जिसको बहुत-से इन्द्रियों के विषय लोभ के फन्दों से नहीं खींचते, वह धीर पुरुष, इन समस्त तीनों लोकों को जीत लेता है।

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणैव स्फारस्फुरिततेजसा॥११४॥

अन्वय—स्फारस्फुरिततेजसा, भास्करेण इव, एकेन शूरेण अपि महीतलम् पादाक्रान्तम् क्रियते।

भावार्थ—यथा तेजस्वी सूर्यः समस्तजगतीतलम् स्वकिरणैः व्याप्तं करोति तथैव एको वीरः सकलसंसारं स्वपादाक्रान्तं करोति।

अनुवाद—चारों ओर तेज फैलानेवाले सूर्य के समान एक वीर अकेला ही सारी पृथ्वी को अपने पैरों के नीचे दबा लेता है।

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणान्
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरंगायते।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥११५॥

अन्वय—यस्य अंगे अखिललोकवल्लभतम् शीलम् समुन्मीलति, तस्य वह्निः जलायते, जलनिधिः तत्क्षणान् कुल्यायते, मेरुः स्वल्पं शिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरंगायते, व्यालः माल्यगुणायते, विषरसः (च) पीयूषवर्षायते।

भावार्थ—शीलवतः लोकप्रियपुरुषस्य सर्वं प्रतिकूलमपि अनुकूलं जायते। अग्निः जलतुल्यः, समुद्रः स्वल्पनदी समानः, सुमेरु शिलासमः, सिंहो हरिणसमः, सर्पः पुष्पमालातुल्यः, विषं च अमृतवर्षासमम् भवति।

अनुवाद—जिसके अंग से समस्त संसार का सर्वाधिक प्रियशील विराजमान है उसके लिए अग्नि जल के समान हो जाती है, समुद्र तत्काल छोटी नदी के समान हो जाता है, सुमेरु पर्वत छोटी शिला की भाँति हो जाता है, सिंह तुरन्त मृग की भाँति हो जाता है, सर्प पुष्पमाला के समान हो जाता है और विषरस अमृत-वर्षा के समान हो जाता है।

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम् ॥
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥११६॥

अन्वय—सत्यव्रतव्यसनिनः तेजस्विनः सुखम् असून् अपि संत्यजन्ति, पुनः लज्जागुणौघजननीम्, स्वाम् जननीम् इव, अत्यन्तशुद्धहृदयाम्, अनुवर्तमानाम् प्रतिज्ञाम् न।

भावार्थ—तेजस्विनः प्राणान् तु सुखपूर्वकं त्यक्तुं समर्थाः किन्तु लज्जादिकानां गुणसमूहानामुत्पन्नकर्त्री स्वमातरमिव पवित्रचितां प्रतिज्ञां कदापि न त्यजन्ति।

अनुवाद—सत्य के व्रत को धारण करनेवाले तेजस्वी पुरुष सुखपूर्वक प्राणों को भी छोड़ देते हैं, परन्तु लज्जा आदि गुणों को उत्पन्न करनेवाली अपनी माँ के समान शुद्ध हृदय और स्वाधीन रहनेवाली प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥११७॥

अन्वय—बोद्धारः मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः, अन्ये च अबोधोपहताः, (अतः) सुभाषितम् अङ्गे जीर्णम्

व्याख्या—बोद्धारः—ज्ञातारः, मत्सरग्रस्ताः–मत्सरेण अन्यशुभद्वेषेण ग्रस्ताः अभिभूताः, प्रभवः—स्वामिनः, स्मयदूषिताः–स्मयेन अभिमानेन दूषिताः विकृताः, अन्ये च–तदतिरिक्ता जनाश्च, अबोधोपहताः—अबोधेन अज्ञानेन उपहताः नष्टाः, (अतः) सुभाषितं—सूक्तिः; अङ्गे—अवयवे, जीर्णम्—अजीर्यत।

भावार्थ—कविः कथयति—विद्वांसः ईर्ष्यालवः, धनिनो गर्विणः अन्ये च दुर्बोधाः। अतः सुभाषितस्य सत्कर्तॄणामभावेन तन्मदीयेऽङ्गे एव जीर्णमभवत्।

अनुवाद—विद्वान् लोग ईर्ष्या से भरे हैं, राजा लोग गर्व से चूर हैं और अन्य लोग अज्ञान के मारे हुए हैं, इसलिए उपयोग के अभाव में सुभाषित मेरे अंगों में ही जीर्ण-शीर्ण हो गया।

प्रियसख विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परा-
परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः।
मृदमिव बलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्
भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥११८॥

अन्वय—प्रियसख! खलः विधिः प्रगल्भकुलालवत् मनः मृदम् इव बलात् पिण्डीकृत्य विपद्दण्डाघातप्रपातपरम्परापरिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय भ्रमयति, अत्र किं विधास्यति इति नो जानीमः।

व्याख्या—प्रियसख—प्रियमित्र!, खलः—दुष्टः, विधिः—विधाता, प्रगल्भकुलालवत्—प्रगल्भः निपुणः कुलालः कुम्भकारः तद्वत्, मनः—चित्तं, मृदम् इव—मृत्तिकाम् इव, बलात्—हठात, पिण्डीकृत्य—कपालवत् कृत्वा, विपद्दण्डा-

घातप्रपातपरम्परापरिचयचले—विपद् विपत्तिः एव दण्डः तस्व आघाताः प्रहाराः तेषां प्रपाताः अतिशयपतनानि तेषां परम्परा पुनरावृत्तिः तस्याः परिचयः संस्तवः तेन चलं चलायमानं तथोक्ते, चिन्ताचक्रे—चिन्ता एव चक्रं तस्मिन्, निधाय—संस्थाप्य, भ्रमयति—आघूर्णयति, अत्र—भ्रमणे, (विधिः) किं विधास्यति—किं करिष्यति, इति, नो जानीमः—न विद्मः ।

भावार्थ—यथा कुम्भकारः मृदं बलात् पिण्डीकृत्य चक्रे निधाय भ्रमयति तथैव विधाता मनुजानां मनः चिन्तासु निक्षिप्य विपद्दण्डप्रहारैः भ्रमयन् पीडयति ।

अनुवाद—हे प्रिय मित्र ! दुष्ट विधाता चतुर कुम्हार की तरह मेरे मन को मिट्टी के समान बलपूर्वक लोंदा बनाकर विपत्ति रूपी डंडे के आघात के अत्यन्त गिरने की परम्परा के परिचय से चलायमान चिन्तारूपी चाक पर रखकर घुमा रहा है, यहाँ विधाता क्या करेगा, यह मैं नहीं जानता ?

यदि नाम दैवगत्या जगदसरोजं कदाचिदपि जातम्
अवकरनिकरं विकिरति तत्किं कृकवाकुरिव हंसः ॥११९॥

अन्वय—यदि दैवगत्या जगत् कदाचित् असरोजम् अपि जातं नाम, तत् किं हंसः कृकवाकुः इव अवकरनिकरं विकिरति ? ।

व्याख्या—यदि—चेत्, दैवगत्या—संयोगवशात्, जगत्—संसारः, कदाचित् असरोजं—कमलरहितम्, अपि, जातं नाम—भवेत्, तत्—तदा, किं, हंसः—मरालः, कृकवाकुः इव—कुक्कुट इव, अवकर-निकरम्—अवकरस्य गलितमांसस्य निकरं राशिं, विकिरति—उत्खनति खादति वा ? ।

भावार्थ—दैवात् सरसि कमलविहीने जातेऽपि यथा हंसः कुक्कुट इव घृणितवस्तुराशिं नोत्खनति वा न खादति तथैव नरः दैवात् विभवावस्थायां क्षीणायामपि स्वप्रतिष्ठाविरुद्धं कार्यं न कुर्यात् ।

अनुवाद—यदि संयोगवश संसार कदाचित् कमल-विहीन हो जाये तो क्या हंस मुर्गे की तरह कूड़े के ढेर को खरोंचेगा ?

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम् ।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥१२०॥

अन्वय—यद्यपि सन्तः सदुपदेशं नो कथयन्ति तथापि ते परिचरितव्याः । एषां याः तु स्वैरकथाः ताः एव शास्त्राणि भवन्ति ।

व्याख्या—यद्यपि, सन्तः—सज्जना, सदुपदेशं—सुशिक्षां, नो कथयन्ति—न ब्रुवन्ति, तथापि, ते—सज्जनाः, परिचरितव्याः—शुश्रूषितव्याः । एषां—सज्जनानां, याः, तु, स्वैरकथाः—स्वेच्छया वदनात् निः सृताः वार्ताः, ताः, एव, शास्त्राणि, भवन्ति—जायन्ते ।

भावार्थ—कृतायामपि परिचर्यायां यदि सत्पुरुषाः न उपदिशेयुः तथापि तेषां शुश्रूषा न त्याज्या, यतो हि स्वेच्छया तेषां मुखेभ्यो निःसृतानि वचांसि शास्त्रवचनानीव कल्याणकारीणि भवन्ति ।

अनुवाद—यदि सत्पुरुष सदुपदेश न दें तो भी उनकी सेवा करना चाहिए। क्योंकि उनके यथेच्छ वचन ही शास्त्र हो जाते हैं अर्थात् उनके मुख से स्वेच्छापूर्वक निकलती हुई बातें ही शास्त्र के समान कल्याणकारक हो जाती हैं।

वचो हिं सत्यं परमं विभूषणं
लज्जाङ्गनायाः कृशता कटौ च
द्विजस्य विद्यैव पुनस्तथा क्षमा
शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम् ।।१२१।।

अन्वय—सत्यं वचः हि परमं विभूषणम्, अङ्गनायाः, कृशता कटौ च, विद्या तथा क्षमा एव पुनः, द्विजस्य, शील हि सर्वस्य नरस्य भूषणम् ।

व्याख्या—सत्यम् —ऋतं, वचः—वचनं, परमम्—उत्कृष्टं, विभूषणम्—आभूषणम् अस्ति, कृशता—क्षीणता, कटौ—मध्यभागे च, (विभूषणं विद्यते) विद्या—वेदादिज्ञानं, तथा—एवम्, क्षमा - सहनशीलता, एव, पुनः, द्विजस्य—ब्राह्मणस्य, (विभूषणम् अस्ति), शीलं सदाचारः, हि, सर्वस्य—समस्त, नरस्य—मनुष्यस्य (विभूषणम् अस्ति) ।

भावार्थ—वचसः शोभा सत्येन, अङ्गनायाः शोभा लज्जया, कटेः शोभा क्षीणतया, ब्राह्मणस्य शोभा विद्यया क्षमया च जायते, किन्तु शीलेन सर्वे नराः शोभन्ते अर्थात् शीलं हि सर्वेषामपि नराणां शोभां समानरूपेण वर्धयति ।

अनुवाद—सत्य वचन मनुष्य का एक उत्कृष्ट आभूषण है, लज्जा महिला

का, पतलापन कमर का, विद्या तथा क्षमा ब्राह्मण का और शील (सच्चरित्रता) सभी मनुष्यों का आभूषण है।

अग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं
भावः पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते।
चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं विद्वद्भिराशंसितं
नारी नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिता ॥१२२॥

अन्वय—दर्पणान्तर्गतं वदनं यथैव स्त्रीणां हृदयम् अग्राह्यम्, पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः भावः न विज्ञायते, चित्तं विद्वद्भिः पुष्करपत्रतोयतरलम् आशंसितम्, नारी विषाङ्कुरैः लता इव दोषैः समं वर्धिता नाम।

व्याख्या—दर्पणान्तर्गतं—दर्पणे प्रतिबिम्बितं, वदनं—मुखं, यथैव—यादृगेव, स्त्रीणां—नारीणां, हृदयं—चित्तम्, अग्राह्यं—ग्रहीतुमयोग्यम्, पर्वतसूक्ष्ममार्गविषमः—पर्वते गिरौ यः सूक्ष्मः तनुः मार्गः पन्थाः स इव विषमः दुर्ज्ञेयः, भावः—अभिप्रायः, न विज्ञायते—ज्ञातुं न शक्यते, चित्तं—चेतः, विद्वद्भिः—पण्डितैः, पुष्करपत्रतोयतरलं—पुष्करस्य कमलस्य पत्रम् पलाशम् तस्मिन् स्थितं तोयं जलं तद्वत् तरलं चञ्चलम्, आशंसितं—भणितम्, नारी—स्त्री, विषाङ्कुरैः विषस्य गरलस्य अङ्कुराणि कन्दल्यः तैः, लता इव—वल्ली इव दोषैः—दुर्गुणैः, समं साकं, वर्धिता नाम—वृद्धि गता नाम।

भावार्थ—यथा दर्पणान्तर्गतः प्रतिबिम्बः हस्तैर्न गृह्यते तथैव स्त्रीणां चित्तं ग्रहीतुं न शक्यम्। तस्याः मनः अतीव चञ्चलम्, भावः दुर्ज्ञेयः। यथा विषलता विषाङ्कुरैः सह वर्धते तथैव नार्यपि दोषैः समं वर्धते।

अनुवाद—दर्पण के भीतर स्थित मुख का प्रतिबिम्ब जैसे पकड़ा नहीं जा सकता उसी तरह नारियों का हृदय भी पकड़ में नहीं आता। पर्वतीय सूक्ष्म मार्ग की तरह दुर्ज्ञेय उनका भाव समझ में नहीं आता है, उनके चित्त को विद्वानों ने कमल-पत्र पर स्थित जल के समान चंचल बताया है। नारी विष के अंकुरों के साथ बढ़नेवाली लता के साथ बढ़ती है।

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतः पतिं वाडवो
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्सन्तापविच्छित्तये ॥१२३॥

अन्वय—सहस्रशः क्षुद्राः सन्ति (ये) स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः, परार्थः एव यस्य स्वार्थः सः एकः पुमान् सताम् अग्रणीः वाडवः दुष्पूरोदरपूरणाय स्रोतःपतिम् पिबति, जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्सन्तापविच्छित्तये।

व्याख्या—सहस्रशः—अनेके, क्षुद्राः—नीचाः, सन्ति—वर्तन्ते, (ये) स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः—स्वभरणव्यापारमात्रे केवलं स्वपोषणकार्ये एव उद्यताः निरताः, परार्थः—परहितम्, एव यस्य—जनस्य, स्वार्थः—स्वहितम्, सः—असौ, एकः—केवलः, पुमान—पुरुषः, सतां—सज्जनानाम्, अग्रणीः—अग्रगण्यः, वाडवः—बडवानलः, दुष्पूरोदरपूरणाय—दुष्पूरः दुःखेन पूरयितुं योग्यः उदरः जठरः तस्य पूरणाय पूर्तये, स्रोतः पतिं—समुद्रं, पिवति—शोषयति जीमूतस्तु—मेघस्तु, निदाघसंभृतजगत्सन्तापविच्छित्तये—निदाघेन ग्रीष्मेण संभृतं सन्तप्तं यत् जगत संसारः तस्य सन्तापः अत्युष्णता तस्य विच्छित्तये विनाशाय।

भावार्थ—उदरम्भरिणो नरास्तु बहवः, किन्तु परहितकातराः धन्यधन्याः सज्जनाग्रण्यो विरला एव। यथा समुद्रस्य जलं बडवानलोऽपि पिवति मेघोऽपि तत्र मेघो वर्षणेन संसारतापं दूरी करोति परन्तु बडवानलः समुद्रस्य जलमादाय न कस्यापि उपकारं करोति। अत एव जना मेघमेव प्रशंसन्ति न तु बडवानलम।

अनुवाद—हजारों नीच जन हैं जो केवल अपने ही पेट भरने में लगे रहते हैं। जो दूसरे के हित को अपना हित समझता है, वही मनुष्य सज्जनों में अग्रगण्य है। वड़वानल अपने कभी न भरने योग्य पेट को भरने के लिए समुद्र को पीता है, किन्तु मेघ ग्रीष्म के ताप से सन्तप्त संसार के ताप को मिटाने के लिए समुद्र को पीता है।

किं कूर्मस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चलः।
किन्त्वङ्गीकृतमुत्सृजन्स्वमनसा श्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥ १२४ ॥

अन्वय—यत् एषः क्ष्मां न क्षिपति (तत्) किं कूर्मस्य वपुषि भर-व्यथा न (भवति), यत निश्चलः न आस्ते (तत्) किं वा दिनपतेः परिश्रमः नास्ति, किन्तु शलाघ्यः जनः अङ्गीकृतम् उत्सृजन् लज्जते, हि प्रतिपन्नवस्तुषु निर्वाहःएतत् सतां गोत्रव्रतम्।

व्याख्या—यत्, एषः—अयं कच्छपावतारधारी विष्णुः, क्ष्मां—पृथ्वीं, न क्षिपति—स्वपृष्ठात् न प्रक्षिपति, (तत्) किं, कूर्मस्य—कच्छपावतारस्य, वपुषि—शरीरे, भरव्यथा—भरस्य भारस्य व्यथा पीडा, न (भवति)? यत्, निश्चलः—अचलः (सन्), न आस्ते—न तिष्ठति, (तत् किं वा, दिनपतेः—सूर्यस्य, परिश्रमः—श्रान्तिः, नास्ति—न भवति ? किन्तु—परन्तु, श्लाघ्यः—प्रशंसनीयः, जनः—लोकः, अङ्गीकृतं—स्वीकृतम्, उत्सृजन्—त्यजन्, लज्जते—त्रपते, हि—यतः, प्रतिपन्नवस्तुषु—प्रतिपन्नेषु स्वीकृतेषु वस्तुषु पदार्थेषु, निर्वाहः—निर्वहणम्, एतत्, सतां—सत्पुरुषाणां, गोत्रव्रतं (वर्तते)।

भावार्थ—सत्पुरुषाः यत् स्वीकुर्वन्ति तस्य निर्वाहमन्तं यावत् कुर्वते, घोर-यामपि विपत्तौ तन्न त्यजन्ति। यथा सूर्यो जगतः प्रकाशनं स्वीकृत्य निरन्तर-चलनपरिश्रमं न गणयति। महाकच्छपो विष्णुः धरां स्वपृष्ठोपरि धृत्वा गुरुतर-भारधारणजन्यक्लेशमपि न मन्यते।

अनुवाद—जो ये कच्छपदेव पृथ्वी को अपनी पीठ से अलग नहीं फेंक देते सो क्या कच्छप के शरीर में बोझ के कारण पीड़ा नहीं होती? जो ये सूर्यदेव कभी स्थिर नहीं होते सो क्या सूर्य को परिश्रम नहीं होता? किन्तु प्रशंसनीय व्यक्ति अपनी स्वीकृत वस्तु को छोडते हुए लज्जित होते हैं, क्योंकि स्वीकृत वस्तुओं का निर्वाह करना सज्जनों का कुलव्रत है।

विरम विरमायासादस्माद्दुरध्यवसायतो
विपदि महतां धैर्यध्वंसं यदीक्षितुमीहसे।
अयि जडविधे! कल्पापायेऽप्यपेतनिजक्रमाः
कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः॥ १२५॥

अन्वय—अयि जडविधे! अस्मात् दुरध्यवसायतः आयासात् विरम विरम, यत् विपदि महतां धैर्यध्वंसम्। ईक्षितुम् ईहसे, कल्पापायेऽपि—एते, कुलशिख-रिणः क्षुद्राः (सन्तः) अपेतनिजक्रमाः न, न वा जलराशयः (तादृशाः)।

व्याख्या—अयि जडविधे—मतिमन्ददैव!, अस्मात्—क्रियमाणात्, दुर-ध्यवसायतः—दुष्टः अध्यवसायः उद्योगः यस्मिन् तादृशात्, आयासात्—प्रया-सात्, विरम विरम—आभीक्ष्ण्येन विरतो भव, यत्, विपदि—आपदि, महतां—महापुरुषाणां, धैर्यध्वंसं—धैर्यनाशम्, ईक्षितुं—द्रष्टुम्, ईहसे—इच्छसि, कल्पा-पायेऽपि—कल्पान्तेऽपि, एते—इमे, कुलशिखरिणः—कुलपर्वताः, क्षुद्राः—नीचाः, (सन्तः) अपेतनिजक्रमाः—अपेताः नष्टाः निजक्रमाः स्वीयमर्यादाः येषां तादृशाः, न—नहि, न वा, जलराशयः—समुद्राः (तादृशाः भवन्ति)।

भावार्थ—हे जडदेव! महापुरुषाणां धैर्यध्वंस कर्तुं मा प्रयतिष्ठाः, यतो हि यथा कल्पान्तेऽपि कुलपर्वताः समुद्राश्च स्वमर्यादां न परित्यजन्ति तथैव महापुरुषा अपि विपत्तावपि स्वधैर्याच्युता न भवन्ति परं संकटैश्च सह युध्यन्तः तेषां पारं गच्छन्ति।

अनुवाद—हे मूर्ख विधाता! इस दुष्प्रयत्न रूप आयास से एकदम विरत हो जाओ, जो तुम विपत्तिकाल में महापुरुषों के धैर्य का नाश देखना चाहते हो। क्योंकि कल्पान्त होने पर भी ये कुलपर्वत या समुद्र क्षुद्र होकर अपनी मर्यादा का त्याग करने वाले नहीं होते।

दैवेन प्रभुणा स्वयं जगति यद्यस्य प्रमाणीकृतं
तत्तस्योपनमेन्मनागपि महान्नैवाश्रयः कारणम् ।
सर्वाशापरिपूरके जलधरे वर्षत्यपि प्रत्यहं
सूक्ष्मा एव पतन्ति चातकमुखे द्वित्राः पयोबिन्दवः ॥ १२६ ॥

अन्वय—प्रभुणा दैवेन जगति यस्य यत् स्वयं प्रमाणीकृतं तत् तस्य (स्वयम्) उपनमेत् । महान् आश्रयः मनाक् अपि कारणं नैव । सर्वाशापरिपूरके जलधरे प्रत्यहं वर्षति अपि चातकमुखे सूक्ष्माः एव द्वित्राः पयोविन्दवः पतन्ति ।

व्याख्या—प्रभुणा—सर्वशक्तिमता, दैवेन—भाग्येन, जगति, संसारे, यस्य—जनस्य, यत्—वस्तु । स्वयं—साक्षात्, प्रमाणीकृतं—निर्दिष्टं, तत्—वस्तु, तस्य—जनस्य, (स्वयम्) उपनमेत—उपगच्छेत । महान् आश्रयः—महतां साहाय्यं, मनाक् अपि—ईषदपि, कारणं—हेतुः, नैव—नास्त्येन । सर्वाशापरिपूरके—सर्वेषां समस्तानां (जनानाम्) आशा मनोरथः तस्या परिपूरकः दायकः तादृशे जलधरे—मेघे, प्रत्यहं—प्रतिदिनं, वर्षति अपि—वृष्टिं कुर्वति अपि, चातकमुखे चातकस्य पक्षिणः मुखे आनने, सूक्ष्माः अत्यल्पाः एव द्वित्राः—द्वौ वा त्रयो वा, पयोविन्दवः—जलकणाः, पतन्ति—गच्छन्ति ।

भावार्थ—यस्य कृते यावदेव वस्तु विधिना निर्दिष्टं स तावदेव वस्तु महतां नरपतीनाम् आश्रयं लब्ध्वापि प्राप्नोति न ततोऽधिकं न्यूनं वा स लभते । यथा—जलधरः वर्षाभिः सर्वान् तोषयति किन्तु चातकमुखे स द्वित्रान् जलकणांनेव पातयितुं प्रभवति ।

अनुवाद—समर्थ विधाता ने संसार में जिसके लिए जो वस्तु स्वयं निर्दिष्ट कर दी है, वह वस्तु उसे स्वयं मिल जायगी । महान् आश्रय इसका तनिक भी कारण नहीं है । क्योंकि सबकी आशा पूर्ण करनेवाले बादल के प्रतिदिन बरसते रहने पर भी पपीहे के मुँह में सूक्ष्म ही दो तीन जल-विन्दु गिर पाते हैं ।

इति श्री भर्तृहरि कृतम् नीतिशतकम् (समाप्त)